

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में २३% राख होती है। उसमें मैग्नीशियम का अंश रहता है।

गुण और प्रयोग—यह संग्राहक एवं नेत्रामिष्यदप्रशमन है। पृथुयुक्त नेत्रामिष्यद में मुने हुए बीजों की मज्जा का ३ र० चूर्ण पलकों के अन्दर रखते हैं। बीजों को पानी में साने हुए गेहूँ के आटे में रख, गरम राख में गरम कर, छिलका निकाल कर नेत्ररोगों में प्रयोग किया जाता है। चाकसू के २१ बीज तथा सफेद चंदन ५ माशे रात में जल में भिगो कर सुबह उस जल को छानकर पिलाने से रक्त मूत्र ठीक होता है।

इति श्रीमिश्रलटकनतनयश्रीमिश्रभावविरचिते भावप्रकाशे वर्गप्रकरणे

तृतीयः कर्पूरादिवर्गः समाप्तः ॥ ३ ॥

अथ गुडूच्यादिवर्गः

अथ गुडूची । तस्या उत्पत्ति नामानि गुणान्थाह

अथ लङ्केश्वरो मानी रावणो राक्षसाधिपः रामपत्नीं बलात्सीतां जहार मदनानुरः ॥ १ ॥
ततस्तं बलवान् रामो रिपुं जायाऽपहारिणम् । वृत्तो वानरसैन्येन जघान रणमूर्धनि ॥ २ ॥
हते तरिमन्सुरारतौ रावणे बलगर्विते । देवराजः सहस्राक्षः परितुष्टश्च राघवे ॥ ३ ॥
तत्र ये वानराः केचिद्राक्षसैर्निहता रणे । तानिन्द्रो जीवयामास संसिन्ध्यामृतवृष्टिभिः ॥ ४ ॥
ततो येषु प्रदेशेषु कपिगात्रास्परिच्युताः । पीयूषविन्दवः पेतुस्तेभ्यो जाता गुडूचिका ॥ ५ ॥
गुडूची मधुपर्णी स्यादमृताऽमृतवल्लरी । छिन्ना छिन्नरूहा छिन्नोद्भवा वत्सादनीति च ॥ ६ ॥
जीवन्ती तन्निका सोमा सोमवल्ली च कुण्डली । चक्रलक्षणिका धीरा विशल्या च रसायनी ॥
चन्द्रहासा वयस्था च मण्डली देवनिर्मिता । गुडूची कटुका तिक्ता स्वादुपाका रसायनी ॥८॥
संग्राहिणी कषायोष्णा लघ्वी बल्याऽग्निदीपिनी । दोषत्रयाममृद्वाहमेहकासांश्च पाण्डुताम् ॥
कामलाकुष्ठवातास्रज्वरक्रिमिवमीन्हरेत् । (प्रमेहश्वासकासाशः कृच्छ्रहृद्दोगवातनुत्) ॥१०॥

अब यहाँ से गुडूच्यादिवर्ग आरम्भ होता है। उसमें प्रथम 'गिलोय' की उत्पत्ति, नाम तथा गुण कहते हैं।

उत्पत्ति—जब कि अभिमानी, लङ्का के राजा, राक्षसों के स्वामी रावण ने कामातुर ही श्रीरामचन्द्रजी की पत्नी श्रीसीताजी को बलपूर्वक हरण किया, तब बलवान् श्रीरामचन्द्रजी ने स्त्री के हरण करनेवाले उस शत्रु (रावण) को वानरों की सेनाओं से युक्त हो युद्ध में मारा। बल से गर्वीले, देवताओं के शत्रु उस रावण के मारे जाने पर इजार नेत्रों वाले देवताओं के राजा इन्द्र, श्रीरामचन्द्रजी पर अत्यन्त प्रसन्न हुये और उन्होंने उस युद्ध में जो कोई वानर राक्षसों के द्वारा मारे गये थे उन्हें अमृत की वर्षा से सींचकर जिला दिया। उसके बाद जिन स्थानों पर वानरों के शरीर से अमृत की बूँदे पृथ्वी पर गिरीं, उनसे 'गिलोय' की उत्पत्ति हुई।

नाम—गुडूची, मधुपर्णी, अमृता, अमृतवल्लरी, छिन्ना, छिन्नरूहा, छिन्नोद्भवा, वत्सादनी, जीवन्ती, तन्निका, सोमा, सोमवल्ली, कुण्डली, चक्रलक्षणिका, धीरा, विशल्या, रसायनी, चन्द्रहासा, वयस्था, मण्डली और देवनिर्मिता ये सब संस्कृत नाम 'गिलोय' के हैं।

गुण—गिलोय कटु, तिक्त तथा कषाय रस युक्त एवं विपाक में मधुर रसयुक्त, रसायन, संग्राही, उष्णवीर्य, लघु, बलकारक, अग्निदीपक तथा त्रिदोष, आम, रुषा, दाह, मेह, कास, पाण्डुरोग, कामला, कुष्ठ, वातरक्त, ज्वर, क्रिमि और वमि को दूर करती है। (यह प्रमेह, श्वास, कास, अर्श, मूत्रकृच्छ्र, हृद्दोग और वात इन सबों का नाश करने वाली होती है) ॥ १-१० ॥

इसके पत्तों के गुण आगे शाकवर्ग में लिखे हुये हैं।

१ गिलोय

हि०—गिलोय, गुरुच, गुडुच । ब०—गुलंच, पालो (सत्व) । म०—गुलवेल, गरड़ वेल । गु०—गलो । क०—अमरदवल्ली, अमृत वल्ली । ते०—तिप्पली । ता०—शिन्दिलकोडि, अमृदवल्ली । उ०—गुलंचा । पं०—गिलो । क०—गरुडवेल । मला०—अमिरतु । गोआ०—अमृतवेल । फा०—गिलोई,

गिलोय। अ०-गिलोय। अं०-टिनोस्पोरा (Tinospora)। ले०-Tinospora cordifolia (Willd.) Miers (टिनोस्पोरा कॉर्डिफोलिया मायर्स)। Fam. Menispermaceae (मेनिस्पर्मसी)।

गिलोय—प्रायः सब प्रांतों के जंगल झाड़ियों में पाई जाती है विशेष कर गरम प्रांतों में अधिक होती है। देहरादून और सहारनपुर के जङ्गलों में बहुत पायी जाती है।

इसकी बहुवर्षायु, चिकनी एवं मांसल लता-बहुत विस्तार में वृक्षों पर फैल जाती है। शाखाओं से छोरे के समान शोरियाँ निकल कर भूमि की ओर लटकती हैं। पत्ते-पान के समान, २-४ इंच के घेरे में गोलाकार नुकीले, चिकने, पतले, ७-९ शिराओं से युक्त एवं १-३ इंच लंबे पणवृन्त से युक्त होते हैं। प्रायः वसन्त ऋतु में इसके पुराने पत्ते पीले होकर गिर जाते हैं और ज्येष्ठ तक नवीन पत्ते निकल आते हैं। उसी समय हरापन युक्त पीले रंग के अथवा केवल पीले रंग के फूलों के गुच्छे आते हैं। फल-मटर के समान होते हैं और पकने पर ये लाल हो जाते हैं। बीज-कुछ टेढ़े तथा चिकने होते हैं।

इसके मूल तथा कांड का व्यवहार औषध के लिये किया जाता है। ताजी अवस्था में कांड की छाल हरी तथा मांसल रहती है तथा उस पर पतली भूरे रंग की बाह्य त्वचा रहती है जिसकी पपड़ी निकलती रहती है। इस पर छोटे-छोटे गठ्ठे होते हैं। इसको काटने से अन्दर का भाग चक्राकार दिखाई देता है। ताजी एवं हरी गुडुच ज्यादा लाभप्रद होती है। गरमी में मई-महीने के आखिर में इसका संग्रह करना चाहिये। प्रयोग के पूर्व इसके ऊपर की छाल खुरचकर निकाल दी जाती है। इसमें गन्ध नहीं होती किन्तु स्वाद कड़वा होता है।

इससे कुछ भिन्न इसकी एक दूसरी जाति प्रायः बड़ी (४"-९"×८"), घुट्ट रोमश और प्रायः त्रिखण्ड पत्तियों वाली होती है। इसके बीज के कठोर भावरण पर छोटे-छोटे दाने होते हैं। इसे सं०-पद्मगुडुची, बं०-पद्मगुलंच, माल०, पं०-बड़ी सरसटीलत एवं ले०-Tinospora malabarica (Lam.) Miers (टिनोस्पोरा मलबारिका मायर्स) कहते हैं। दोनों के गुण और स्वरूप में स्थूल-रूप से कोई अन्तर न मिलने के कारण दोनों का ही व्यवहार गुडुची के नाम से किया जाता है। इसे कुछ विद्वानों ने सुदर्शन माना है।

रासायनिक संगठन—इसकी ताजी कांड त्वक् में तीन रवेदार पदार्थ, गिलोइन ग्लोकोसाइड (Giloin, C₂₃ H₃₂ O₁₀, 5H₂O), गिलोइनिन नामक कड़वा पदार्थ (Giloinin, C₁₇ H₁₈ O₅) तथा गिलोस्टेरॉल (Gilosterol, C₂₈ H₄₈ O) पाये जाते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें बर्बेरिन (Berberine) एवं मोम की तरह का एक पदार्थ पाया जाता है।

गुडुचीसत्व—अच्छी मोटी गुडुच बरसात के पूर्व संग्रहकर ऊपर की छाल छुड़ाकर साफ धोकर छोटे टुकड़े बना पत्थर के खरल में महीन कूट डाले। इसमें चौगुना जल डाल १२-२४ घंटा भीगने के बाद अच्छी तरह मसलकर कपड़े से छान ले। सत्व नीचे बैठने के बाद ऊपर का बल धीरे से नितार कर सत्व को मुखाकर बन्द बोतलों में रखें। कुछ लोग नितारे हुये जल में फिर से उसी गुडुच को मसल एवं उबाल कर छान लेते हैं तथा उस द्रव को पहले निकाले हुये सत्व में मिलाकर धूप में सुखा लेते हैं जिससे इसमें उष्ण जल में घुलनशील पदार्थ भी आजाते हैं। कुछ लोग नितारे हुये जल को औटाकर स्वतन्त्र प्रयोग भी करते हैं।

गुण और प्रयोग—गुडुच कड़वी, उष्ण, त्रिदोषघ्न, रसायन, बल्य, ज्वरहर, दीपन, मूत्रजनन, स्वरोगहर, पित्तसारक तथा विषघ्न है। नवीन अनुसंधानों से गुडुची का व्याधिप्रतिकारक गुण व्यापक रूप में प्रमाणित हुआ है। जीर्ण पित्तकेन्द्र (Chronic septio focus) जनित विकार,

जीर्ण विषमज्वर तथा यकृत की हीनकार्यता आदि में कुछ क्रा० तक गुडुची का प्रयोग करते रहने से अवश्य लाभ होता है।

इसका प्रयोग त्वग्रोग, विषमज्वर, जीर्णज्वर, कुष्ठ, वातरक्त, प्रमेह, मूत्रकुच्छ, कामला, पांडु, मन्दाग्नि, वमन, तृषा, दाह, रक्ताशं एवं कुमि आदि अनेक रोगों में किया जाता है।

(१) ताजी गिलोय को साफ धोकर बनाया कक १० तो० एवं अनन्तमूल का चूर्ण १० तो० इनको १०० तो० उबलते जल में बन्द पात्र में दो घंटे बन्द रखें। फिर मसल कर छान लें। यह फाट उत्तम रसायन एवं मूत्रजनन है। कुष्ठ, फिरङ्गोपदंश की द्वितीयावस्था, वातरक्त तथा जीर्ण आमवात में यह बहुत लाभदायक होता है। ज्वर के पश्चात् उत्पन्न दौर्बल्य तथा अन्य दौर्बल्य युक्त व्याधियों में इसका उपयोग पौष्टिक रूप में किया जाता है। इसको ५-१० तो० दिन में ३ बार पिलाते हैं।

(२) सौम्य विषमज्वर तथा जीर्णज्वर में जो शीत मालूम पड़ता है वह इसके काथ से दूर होता है। जीर्णज्वर में इसके काथ में या स्वरस में छोटी पीपल एवं मधु मिलाकर पिलाते हैं जिससे ज्वर, कफ, प्लीहावृद्धि एवं अरुचि आदि दूर होती है।

(३) प्रमेह, नवीन सोजाक तथा अन्य मूत्रविकारों में इसका स्वरस अधिक मात्रा में दिया जाता है। अधिक मात्रा से पाखाना भी साफ होता है। प्रमेह में २-३ इंच स्वरस पाषाणभेद-चूर्ण ५-८ २० एवं मधु के साथ या दुग्ध एवं शर्करा के साथ दिन में ३ बार पिलाते हैं। गुडुच, हरिद्रा एवं आंवला इनका काथ अथवा गुडुची स्वरस एवं मधु का प्रयोग भी लाभदायक होता है।

(४) गुडुची से पित्तमार्ग का अभिव्यन्द कम होने के कारण पित्त का स्राव ठीक होने लगता है। कुपचन, मन्द उदरशूल तथा कामला में इसका उपयोग किया जाता है। कामला में इसका स्वरस मधु मिलाकर सुबह पिलाना चाहिये। इसमें गुडुच के पत्तों का कक तक के साथ लाभदायक होता है। पित्तिक वमन में इसका स्वरस पिलाने से लाभ होता है।

(५) त्वग्रोगों में यह प्रधान औषध है। इनमें एक हाथ प्रमाण में गुडुच, गुग्गुलु के साथ या कड़वी नीम या हरिद्रा, खदिर एवं आंवला के साथ देते हैं। इससे कंठ, दाह, दाग एवं चकत्ते आदि अच्छे होते हैं। वातरक्त में दुग्ध के साथ सिद्ध किया हुआ इसका तैल लाभदायक माना जाता है। पित्ताधिक्य युक्त वातरक्त में इसका काथ पिलाते हैं।

(६) अशं में इसका स्वरस या चूर्ण तक के अनुपान से देते हैं।

(७) स्तन्यशुद्धि के लिये इसका काथ पिलाया जाता है।

(८) रसायन रूप में इसका स्वरस या मधु एवं गुड के साथ इसके चूर्ण का प्रयोग किया जाता है।

(९) गुडुचीसत्व—ज्वरहर रूप में इसका बहुत उपयोग किया जाने से इसे भारतीय किनोन कहा जाता है। प्लीहावृद्धि एवं वस्तिशोथ में यह बहुत उपयोगी है। आंव, जीर्ण अतिसार, रक्तातिसार, अम्लपित्त, मूत्रविकार एवं शुक्रक्षय में यह लाभदायक है। औषधीय गुणों के अतिरिक्त यह उत्तम पोषक पदार्थ भी है।

मात्रा—चूर्ण १-३ मा०, काथ ४-८ तो०; सत्व ५-२५ २०।

अथ नागवल्ली (पान)। तस्या नामानि गुणांश्चाह

ताम्बूलधल्ली ताम्बूली नागिनी नागवल्ली। ताम्बूलं विशदं रुच्यं तीक्ष्णोष्णं तुवरं सरम्॥११॥
घस्यं तिषत् कटु चारं रक्तपित्तकरं लघु। कस्यं श्लेष्मास्यदीर्घान्ध्यमलवातश्रमापहम् ॥१२॥

पान के नाम तथा गुण-ताम्बूलवल्ली, ताम्बूली, नागिनी, नागवल्लरी और ताम्बूल ये सब संस्कृत नाम 'पान' के हैं। पान-विशदगुणयुक्त, रुचिकारक, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, कसैला, दस्तावर, वशकारक, तिक्त, कटु रसयुक्त, क्षार गुणयुक्त, रक्तपित्त का उत्पादक, लघु तथा बलकारक होता है। यह कफ, मुख को दुर्गन्धता, मल, वात तथा श्रम को दूर करता है ॥ ११-१२ ॥

२ पान

हि०-पान ब०-पान । म०-नागवेल, विड्याचेपान । ते०-तमाल पाकु । ता०-वेत्तिलै । गु०, मा०-नागवेल । मला०-वेत्तिल । फा०-तंबोल, बर्गे तंबोल । अ०-तंबूल । अं०-Betel Leaf (बिटल लीफ) । ले०-Piper betle Linn. (पाइपर बीटल लिन.) । Fam. Piperaceae (पाइपरसी) ।

पान—सर्वप्रसिद्ध और सर्वप्रिय एक बेल के पत्र हैं। भारतवर्ष, लंका एवं मलयद्वीप के उष्ण एवं आर्द्र प्रदेशों में इसकी खेती की जाती है। इसकी मूलारोहिणी लता-अत्यन्त सुहावनी और कोमल होती है। कांड-अर्धकाष्ठमय, मजबूत तथा गांठों पर मोटा रहता है। पत्ते-पीपल के पत्तों के समान, बड़े, चौड़े अंडाकार, कुछ हृदयाकृति, कुछ लंबाघ, प्रायः ७ शिराओं से युक्त, चिकने, मोटे एवं करीब १ इंच लंबे पर्णवृन्त से युक्त रहते हैं। पुष्प-अवृन्त काण्डज (Spike) पुष्पव्यूहों में आते हैं। फल-करीब दो इंच लंबे, मांसल, लटकते हुये व्यूहाक्ष में छोटे-छोटे बहुत फल रहते हैं। पान में मनोहर गंध रहती है तथा इसका स्वाद कुछ उष्ण एवं सुगंधयुक्त रहता है।

इसके खेत की जमीन बीच में ऊँचा और दोनों किनारे नीची होती है। इससे खेत में पानी नहीं ठहरता। धूप और पाले से बचाव के लिये खेत के चारों ओर फूस की दीवार और छाजनी बना देते हैं। खेत के भीतर क्यारी बनाकर फरद, जियल इत्यादि की ढालियाँ लगा देते हैं। इन्हीं के सहारे पान की बेल फैलती है। बंगला, सांचो, महोबा, महाराजपुरी, विलोआ, कपुरी, फुलवा इत्यादि नामों से इसकी कई जातियाँ होती हैं। ४० नि० में इसके कृष्ण और शुभ्र ये दो भेद लिखे हुये हैं। रा० नि० में श्रीवाटी (सिरिवाडीपान), अम्लवाटी (अंबाडेपर्ण), सतसा (सातसीपर्ण), गुहागरे (अडगरपर्ण), अम्लसरा (मालव में होने वाला अंगरापर्ण), पट्टलिका (भांध्र में होने वाला पोटकुली पर्ण) एवं हेसणीया (समुद्रदेशपर्ण) ये पान के सात भेद लिखे हैं जिनके अलग-अलग गुण भी लिखे हैं।^१ स्थानादि भेद से पान विभिन्न प्रकार का होता है। अति प्राचीनकाल से अपने

१. श्रीवाटी मधुरा तीक्ष्ण वातपित्तकफापहा ।

रसाख्या सरसा रुच्या विपाके शिशिरा स्मृता ॥

स्यादम्लवाटी कटुकाम्लसिक्ता तीक्ष्णा तथोष्णा मुखपाककर्त्री ।

विदाहपित्तास्रविकोपनी च विष्टभदा वातनिबहणी च ॥

सतसा मधुरा तीक्ष्णा कटुष्णा च पाचनी । गुल्मोदराध्मानहरा रुचिकृद्दीपनी परा ॥

गुहागरे ससशिरा प्रसिद्धा तत्पर्णजूतातिरसाऽतिरुच्या ।

सुगन्धितीक्ष्णा मधुरातिहृद्या सन्दीपनी पुंस्वकराऽतिबह्या ॥

नाम्नाऽन्याऽम्लसरा सुतीक्ष्णमधुरा रुच्या हिमा दाहसुत् ।

पित्तोद्रेकहरा सुदीपनकरी बह्या मुखमोदनी ॥

स्त्रीसौभाग्यविवर्धनी मदकरी राज्ञां सदा वल्लभा ।

गुल्माऽऽध्मानविबन्धजिश्च कथिता, सा मालवे तु स्थिता ॥

अन्ध्रे पट्टलिका नाम कषायोष्णा कटुस्तथा । मलापकर्षा कंठस्थ पित्तकृद्वातनाशनी ॥

हेसणीया कटुस्तीक्ष्णा हृद्या दीर्घदला च सा । कफवातहरा रुच्या कटुदीपनपाचनी ॥ (रा०नि०)

यहां पान का व्यवहार मुखशुद्धि, रुचिवृद्धि एवं सुगन्धि के लिये किया जाता है। चरक में मात्रा-शितीय अध्याय में 'प्रायःप्यास्थेन वैशद्यरुचिसौगन्ध्यमिच्छता...कंकालकफलं पत्रं ताम्बूलस्य शुभं तथा' एवं सुश्रुत में अन्नपानविधि अध्याय में इसका उल्लेख है।

रासायनिक संगठन—पान के पत्तों में एक सुगन्धि उद्भवी तैल (०.२-१.०%), स्टार्च, शर्करा, टैनिन एवं डायस्टेस (Diastase, 0.8-1.8%) ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसका तैल इलके पीले रंग का, सुगन्धि, स्वाद में तीक्ष्ण तथा दाहकारक एवं ०.९५८-१.०५७ वि० गु० वाला रहता है। इस तैल में चविकॉल (Chavicol), कॅडेनीन (Cadenene), चविबेटॉल (Chavibetol), यूजेनॉल का समाजिक (Isomeride of Eugenol) एवं सेस्क्विटर्पेन (Sesquiterpene) ये पदार्थ पाये जाते हैं। जावा-एवं मनिला के तैल में फेनॉल (Phenols) की मात्रा बहुत (५५%) रहती है। पुराने पत्तों की अपेक्षा नवौंन पत्तों में तैल, डायस्टेस एवं शर्करा की मात्रा अधिक रहती है। चविकॉल यह कार्बोलिक एसिड की अपेक्षा ५ गुना अधिक प्रतिदूषक (Antiseptic) है जो इसके स्वरस में रहता है।

गुण और प्रयोग—पान उत्तम दीपन, पाचन, श्लेष्मघ्न, वातहर, पित्तप्रकोपक, उष्ण, स्वर्य, सुगन्धि, शोथघ्न, त्रणरोपक, प्रतिदूषक, कृमिघ्न, वृष्य एवं मुंह की कंठ-मल-क्लेद-दुर्गन्ध नाशक है।

इसका प्रयोग पीनस, कास, कफविकार, आध्मान तथा शोथादि में एवं कफविकारों में अनुपान के रूप में बहुत किया जाता है। सुपारी, चूना, कल्या एवं इलायची आदि पान के पत्ते में रख कर उसका बीड़ा बनाकर मुखशुद्धि आदि के लिये लोग खाते हैं। इसको खाते खाते लोगों को इसका व्यसन हो जाता है। कोकेन खाने वाले पान में कोकेन रखकर खाते हैं। कई औषधों को पान में रख कर खाने की प्रथा है।

जिसने पान कभी नहीं खाया है उसे प्रथम इसके सेवन के पश्चात् मुंह में जलनसी मालूम होती है, गले में एक तरह की जकड़न मालूम होती है, स्वाद ग्रहण करने की शक्ति कम होती है एवं मुंह आदि में छाले पड़ जाते हैं। कुछ देर तक बेचैनी, जी का धंसना, मूर्च्छा, संन्यास, कुछ उत्तेजना एवं स्वेदोत्पत्ति आदि लक्षण किसी-किसी में होते हैं।

इसके तैल के सेवन के पश्चात् मुख तथा आमाशय में उष्णता का अनुभव होता है। प्रारंभ में केन्द्रीय वातनाडी संस्थान की उत्तेजना के पश्चात् अधिक मात्रा से एक तरह का नशा उत्पन्न होता है। इसमें डायस्टेस (Diastase) की पर्याप्त मात्रा होने के कारण यह स्टार्च आदि पिष्टमय पदार्थों के पाचन में सहायक होता है। इसके अतिरिक्त पान चबाने से लालास्राव की वृद्धि होती है जो पाचन में सहायक होती है। भात खाने वालों में इससे विशेष लाभ होता है और यदि वे पान बंद कर दें तो उनका पाचन ठीक नहीं होता।

पान खाने का जिन्हें व्यसन हो जाता है उन्हें पान खाने से अच्छा मालूम होता है। उनका मन प्रसन्न होता है, थकावट दूर होती है, प्यास तथा भूख मालूम नहीं पड़ती एवं कुछ कामोत्तेजना होती है। यह तीव्र मादक नहीं होता तथा इसके व्यसन से कोई विषैले परिणाम नहीं होते। सोकर उठने पर, स्नान के पश्चात्, भोजन के पश्चात् एवं वमन के पश्चात्, पान के सेवन का विधान है।^१

(२) कफप्रधान रोगों में यह बहुत लाभदायक होता है। तमक श्वास, श्वसनिका शोथ एवं स्वर्यत्र शोथ आदि में पान का रस पिलाते हैं एवं पान को ऊपर से बांधते हैं। बच्चों के कास,

श्वसकृच्छ्र, श्वसनिकाशोथ एवं प्रतिश्याय आदि में पान के पत्तों को परंडतैल लगाकर, गरम कर छाती पर बांधने से बहुत लाभ होता है।

(२) रोहिणी (डिफ्थीरिया Diphtheria) नामक बच्चों में अधिक होने वाले घातक गले के विकार में ४ पत्तों का रस थोड़े गरम पानी में मिलाकर गरारा करने को देते हैं। पान के तैल को २ बूंद की मात्रा में करीब आध पाव उष्ण जल में मिलाकर इसी प्रकार प्रयोग करते हैं तथा उसकी बाष्प सूघते हैं।

(३) गांठ, शोथ एवं व्रण पर इसके पत्तों को गरम कर बांधने से शोथ एवं वेदना कम होती है एवं व्रण जल्दी अच्छा होता है। इसी प्रकार स्तनों पर बांधने से दुग्ध रुक जाता है तथा सूजन कम होती है। पान के रस में थोड़ा चूना मिलाकर शोथ आदि पर पोस्टिस के रूप में व्यवहार करते हैं।

(४) कोंकण की तरफ पान के फलों को मधु के साथ खांसी में देते हैं।

(५) उड़ीसा में इसके मूल को काली मिर्च के साथ संततिनियमन के लिये सेवन करते हैं।

(६) नेत्राभिर्बन्ध एवं रतौषी में पत्तों का रस मधु मिलाकर आंख में डाला जाता है।

निषेध—नेत्ररोग, रक्तपित्त, क्षत, वातविकार, विषबाधा, शोथ, मदात्यय, मोह एवं मूर्च्छा में इसका सेवन निषिद्ध है।

मात्रा—स्वरस ३-१ तो०।

अथ त्रिल्वः (बेल) । तस्य नामानि गुणांश्चाह

त्रिल्वः शाण्डिल्यशैल्यौ माल्दरश्रीफलावपि।^२ श्रीफलस्तुवरस्तित्तो ग्राही रूचोऽग्निपित्तकृत् ।
वातश्लेष्महरो बल्यो लघुहृणश्च पाचनः ॥ १३ ॥

बेल के नाम तथा गुण—त्रिल्व, शाण्डिल्य, शैल्य, माल्दर और श्रीफल ये सब संस्कृत नाम बेल के हैं। बेल—कषाय तथा तिक्त रस युक्त, ग्राही, रूक्ष, अग्निवर्धक, पित्तकारक, वात कफनाशक, बलकारक, लघु, उष्णवीर्य तथा पाचक है ॥ १३ ॥

३ बेल

हि०—बेल, श्रीफल। बं०, म०—बेल। गु०—बीली। क०—बेलपत्रे। ते०—मारेडु, विस्वपंडु। ता०—बिल्वम, विश्वपक्षम। मा०—बील, बोलो। मल०—कुवलप-पक्षम। सिन्ध०—बिल, कटोरी। उडि०—बेलो। अ०—सफरजले हिंदी। फा०—बेद हिंदी, बल, शुल। अं०—Bengal Quince (बंगाल किन्स); Bael fruit (बेल फ्रुट)। ले०—*Aegle marmelos* Corr. (इग्ल मार्मेलोस् कॉर)। Fam. Rutaceae (रूटेसी)।

यह आसाम, ब्रह्मा, बंगाल, बिहार, युक्तप्रान्त, अवध, झेलम, मध्य और दक्षिण हिन्दुस्तान तथा सिलोन में जंगली और प्रायः सभी स्थानों में बागी दोनों प्रकार से उत्पन्न होता है।

इसका वृक्ष—मध्यमाकार का ५० फुट से भी ऊँचा होता है। शाखाओं पर सीधे, मोटे, तीक्ष्ण एक इंच तक लम्बे काटे होते हैं। टहनियों पर पत्ते विषमवर्ती रहते हैं। प्रत्येक सीक पर तीन-तीन

१. न नेत्ररोगे न च रक्तपित्ते क्षते न वाते न विषे न शोषे।

मदात्यये नापि च मोहमूर्च्छांश्चासेषु ताम्बूलमुशन्ति वैद्याः ॥ (सुषेणदेवः)

२. गन्धगर्भः शलाटुश्च कण्टकी च सदाफलः। (काचित्कः)

पत्रकों से युक्त पत्ते रहते हैं। पत्रक—कसौदी के पत्तों के आकार वाले एवं अंडाकार—मालाकार होते हैं। बीचवाला पत्ता अन्य दो से कुछ बड़ा होता है। फाल्गुन-चैत्र में पुराने पत्ते गिर जाते हैं और चैत्र-वैशाख में क्रम से नवीन पत्ते निकल आते हैं। इसी समय में हरियाली लिये सफेद रङ्ग के, ४, ५ पंखड़ियों (अन्तर्दल) वाले एवं करीब १ इंच चौड़े फूल लगते हैं और उनमें मधु के समान मन्द गन्ध निकलती है। फल (बीजिमांसल फल—Berry)—गोलाकार ३-८ इंच व्यास के, हरिताम रंग के, पकने पर पीताम भूरे रंग के एवं चिकने होते हैं। बहिर्भित्ति (Epicarp) से बाह्य कठोर काष्ठमय छिलका बनता है जो करीब ३ मि. मि. मोटा, रक्ताम रंग का एवं अन्दर से रेशेदार होता है। मध्यभित्ति एवं अन्तर्भित्ति से गूदा बनता है जो आवरण से चिपका हुआ तथा हल्के रक्ताम नारंगी रंग का होता है। बीज—बहुत, १०-१५ समूहों में, बिनाले के सदृश सफेद रोमों से युक्त एवं चिकने तथा रंगहीन गोंद से लिपटे रहते हैं। फलों में मन्द सुगंध आती है तथा रचना स्वाद गोंद की तरह होता है। बेल के दो तरह के फल होते हैं। लगाये हुये फल बड़े, सुस्वादु एवं फम बोज वाले होते हैं। जंगली फल छोटे, कुछ मादक एवं इसके बीज अधिक गोंद से लिपटे होते हैं तथा ये मछली मारने के काम में आते हैं।

बेल अपने यहाँ बहुत पवित्र माना गया है। सूतिकागार के निर्माण में एवं सूतिका के पलंग की लकड़ी बेल की लेने का चरकादि में विधान है। सुश्रुत में मेधायुष्काभीय अध्याय (चि० अ० २८) में विशिष्ट पद्धतिसे ऋग्वेदोक्त श्रीसूक्त के द्वारा बिस्व की आहुति आदि का विधान किया है जिससे अलक्ष्मी का नाश एवं आयुवृद्धि हांती है।

बेल के मूल, त्वचा, पक्क-अपक्क फल, पत्र एवं पुष्प का औषध में व्यवहार किया जाता है। चूर्णादि के लिये कच्चे फल का, मुरब्बे के लिये अपक्के फल का और पानक के लिये परिपक्क फल का गूदा लेना चाहिये। दशमूल आदि कषायों में मूल या वृक्ष की त्वचा ली जाती है।

रासायनिक संगठन—बेल के फलों में गोंद एवं पेक्टिन (Pectin) के अतिरिक्त प्रहासक (Reducing) शर्करा ३७%, संपूर्णशर्करा ४.६%, तैल जिसमें मार्मेलोसिन (*Marmelosin*, $C_{13}H_{12}O_3$) नामक एक महत्व का रवेदार पदार्थ रहता है तथा उडनशील तैल रहता है। पक फलों में टैनिन सदृश पदार्थ अत्यल्प मात्रा में रहते हैं। इसके मूल, पत्र एवं छाल में प्रहासक शर्करा एवं टैनिन पाया जाता है। इसके बीजों में एक हल्के पीले रंग का तैल होता है।

गुण और प्रयोग—कच्चा बेल कट्ट, तिक्त, कषाय, स्निग्ध, उष्ण, दीपन, ग्राही, वात-कफ-नाशक एवं आन्त्र को बल देने वाला है। पक्क फल मधुर, सुगन्धि, गुरु, विदाही, विष्टभि, दुर्जर, दोषकर, आनुलोमिक एवं दुर्गन्धयुक्त अशोवायु उत्पन्न करने वाला है। बिस्वपत्र वातहर, शोथहर, ज्वरहर, श्लेष्मनिःसारक, ग्राही एवं आमशूलघ्न होते हैं। बिस्वमूल—वातनाडीसंस्थान के लिये शामक, मधुर, छर्दिघ्न एवं वातहर है। पुष्प—अतिसार, तृषा एवं वमन में लाभदायक होते हैं। इसकी मज्जा का तैल उष्ण एवं उत्तम वातहर माना जाता है। इसके बीज—१॥ माशे की मात्रा में अच्छे विरेचक होते हैं।

बिस्व का उपयोग अतिसार, प्रवाहिका, संग्रहणी, मधुमेह, कर्णरोग, वातरोग, वमन, कामला, अर्श, शोथ एवं ज्वर में किया जाता है।

(१) इसके पके फल का गूदा मृदुविरेचक होने के कारण इसका जल में शर्वत बनाकर लेने से जीर्ण विबन्ध, अर्श, आध्मान एवं कुपचन में लाभ होता है। जिन्हें बार-बार विबन्ध एवं अतिसार क्रमशः हुआ करता है उन्हें नित्य सुबह यह दिया जाता है। स्निग्ध एवं मृदुविरेचक रूप में यह प्रवाहिका की रोग-निर्मुक्तावस्था एवं संग्रहणी की प्रारंभिक अवस्था में दिया जाता

है। प्रवाहिका में इसको लेते रहने से विबन्ध नहीं होता जिससे आन्त्रिक व्रण जल्दी अच्छे होते हैं। संग्रहणी (Sprue) की प्रारंभिक अवस्था में ताजा फल तथा शर्करा से अवश्य लाभ होता है।

(२) मुन्ना हुआ कच्चा फल या कच्चे फल का सुखाया हुआ गूदा ग्राही एवं दीपन होने के कारण अतिसार, रक्तातिसार एवं प्रवाहिका में दिया जाता है। जब ज्वर न हो, रोगी दुर्बल हो तथा पाचन खराब हो गया हो तब इससे विशेष लाभ होता है। आंव, रक्त एवं कुंथन युक्त तीव्र प्रवाहिका में यद्यपि इससे चूर्ण को लाभदायक माना गया है तथापि इन अवस्थाओं की अपेक्षा जीर्ण विकारों में इसका गुणकारी प्रभाव स्पष्ट दिखाई देता है। इसके सेवन के पश्चात् धीरे-धीरे रक्त कम होकर पाखाना बँधा होने लगता है। अधिक दिन लेते रहने से आंव भी कम हो जाती है तथा बाद में बिलकुल नहीं रहती। जीर्ण आंव की शिकायत होने पर इसके साथ बड़ी सोंफ एवं धोड़बच मिलाकर काथ बनाकर देते हैं। रक्तपित्त वाले रोगी को आंव होने पर यह विशेष लाभदायक है। अरास्ट के साथ इसकी पेया बनाकर देने से आन्त्र को बल प्राप्त होता है। प्रवाहिका में बेल का कल्क, तिल का कल्क, दही की मलाई तथा घृत देते हैं। पित्त एवं रक्तातिसार में इसकी मज्जा एवं मुलेठी, शर्करा, मधु एवं तंडुलांडु के साथ देने से लाभ होता है। बिस्व एवं गुड़ का प्रयोग आमशूल, विबंध, कुक्षिशूल तथा रक्तातिसार में लाभदायक होता है। अत्युग्र ग्रहणी में बिस्व के साथ सोंठ एवं गुड़ मिलाकर सेवन करें एवं आहार में तक्र का सेवन करें। पुराने विकारों में बेल का मुरब्बा भी लाभदायक होता है। पुराने सोजाक में ताजा गूदा एवं कदाबचीनी दूध के साथ देते हैं।

(३) अर्श में सुखोष्ण मूलकाथ में रोगी को बैठावें। रक्तार्श में बिस्वमज्जा एवं तक्र का उपयोग लाभदायक होता है।

(४) बेल की जड़ शामक होने के कारण हृदय की धड़कन, उदासीनता, निद्रानाश तथा पागलपन इनमें दी जाती है। विषमज्वर में इसके जड़ की छाल का काथ पिलाते हैं। जीरा एवं मूलत्वक् को पीसकर घी के साथ शुक-तारस्य में देते हैं। विषेले जन्तुओं के दंश में इसका लेप किया जाता है। बच्चों को जब की एवं दस्त होते हैं तब इसको चावल के मांड के साथ उबालकर वह मांड चीनी मिलाकर देते हैं।

(५) इसके ताजे पत्तों का स्वरस ज्वर, कफज्वर, अभिष्यन्द, शोथ तथा कफ विकारों में देते हैं। दमा में इसका काथ देते हैं। नेत्राभिष्यन्द में इसका स्वरस देते हैं तथा पत्तों का लेप पलकों पर करते हैं। शोथयुक्त विकारों में तथा व्रण पर पत्तों का पुस्टिस लाभदायक होता है। इसका स्वरस काली मिर्च के साथ जलशोथ, विबंध एवं कामला में देते हैं। यह शरीर को दुर्गंध को भी दूर करता है। मधुमेह में १-२ तोला स्वरस देने से लाभ होता है।

(६) बिल्वफल को गोमूत्र के साथ पीसकर अजाशोर के साथ तैल सिद्ध कर कर्णबिन्दु के रूप में प्रयोग करने से बाधिर्य में लाभ होता है।

मात्रा—चूर्ण २-८ माशा; प्रवाहीसत्त्व ३-२ ड्राम; काथ ३-२ औंस।

अथ गम्भारी । तस्या नामानि गुणांश्चाह

गम्भारी भद्रपर्णी च श्रीपर्णी मधुपर्णिका । काश्मीरी काश्मरी हीरा काश्मर्यः पीतरोहिणी ॥१३॥
कृष्णवृन्ता मधुरसा महाकुसुमिकाऽपि च । काश्मरी तुवरा तिका वीर्योष्णा मधुरा गुरुः ॥१४॥
दीपनी पाचनी मेथ्या भेदिनी भ्रमशोषजित् । दोषवृणाऽऽमशूलाशोविषदाहज्वरापहा ॥१५॥

गम्भारी के नाम तथा गुण—गम्भारी, भद्रपर्णी, श्रीपर्णी, मधुपर्णिका, काश्मीरी, काश्मरी, हीरा काश्मर्य, पीतरोहिणी, कृष्णवृन्ता, मधुरसा और महाकुसुमिका ये सब संस्कृत नाम गम्भारी के हैं। गम्भारी—मधुर, कषाय तथा तिक्त रस युक्त, उष्णवीर्य, गुरु, अग्निदीपक, पाचक, मेधा के लिये हितकर तथा मलभेदक होती है। वह भ्रम, शोष, वातादिक दोष, तृषा, आम, शूल, बवासीर, विष, दाह और ज्वर इन सब रोगों को दूर करने वाली होती है ॥ १४-१६ ॥

अथ गम्भारीफलगुणानाह

तत्फलं बृंहणं बृष्यं गुरु केश्यं रसायनम् । वातपित्तवृषारक्तक्षयमूत्रविबन्धनुत् ॥ १७ ॥

स्वादु पाके हिमं क्षिप्रं तुवरा म्लं विशुद्धिकृत् । हन्याद्दाहतृषावातरक्तपित्ततृषयान् ॥१८॥

इसके फल के गुण—इसका फल बृंहण (धातुवर्धक), बृष्य (वीर्यवर्धक), गुरु, बालों के लिये हितकर और रसायन होता है। यह वात, पित्त, तृषा, रक्तक्षय, मूत्र-सम्बन्धी विबन्धता का नाशक है और पोषक में मधुर रस, स्वाद में कषाय तथा अम्ल रसयुक्त, शीतवीर्य, स्निग्ध एवं शुद्धिकारक होता है। यह दाह, तृषा, वात, रक्तपित्त, क्षत और क्षय इन सब रोगों को दूर करता है ॥ १७-१८ ॥

४ गम्भारी

हि०, पं०—गम्भारी, खम्भारि, कम्भार, गम्भार, गम्हार, कुम्हार, कासमर । बं०—गामार गाछ, गम्भार । म०—शिवण । गु०—शिवण, सवन । क०—सीवनी । ते०—गुमारटेक । ता०—गुमड़ी । आसाम—गोमरी । गर०—बोल्को बक । मा०—शेवण, शिवण, कुम्भेरन । ले०—*Gmelina arborea* Linn. (मेलीना आर्बोरिआ लिन.) । Fam. Verbenaceae (वर्बिनेसी) ।

गम्भारी—इस देश के कई प्रान्तों में उत्पन्न होती है, विशेषकर दक्षिण, कोंकण, मध्यभारत, बरार, सिलोन, पश्चिमोत्तर-हिमालय, चट्टगांव, पूर्व बङ्गाल एवं बिहार आदि प्रान्तों में पाई जाती है। इसका वृक्ष-बड़ा होता है। ऊँचाई में कहीं-कहीं ६० फुट से भी ऊँचा वृक्ष देखने में आता है। छाल का रंग सफेद, ताजी छाल किञ्चित् पीलापन युक्त हरियाली लिये सफेद तथा सफेदो लिये भूरे रंग की होती है। छाल पर काले चिह्न या छोटे-छोटे गोल दाने होते हैं। इसकी टहनियाँ-श्वेताम एवं रोमश होती हैं। काट-प्रायः आधा इञ्च मोटा, बिना रेशे का और हलका या गहरा नारंगी रंग से मिला रहता है। पत्ते-४-९ इञ्च लम्बे, ३-७ इञ्च चौड़े, लट्वाकार, चौड़े, प्रायः हृदय, नोकीले, अधरतल पर प्रायः क्षोदलिप्त, २-६ इञ्च लम्बे वृन्त से युक्त और आमने-सामने, परन्तु प्रायः एक सन्धि के दोनों पत्ते कुछ छोटे-बड़े होते हैं। वसन्त ऋतु में पुराने पत्ते गिरकर नये पत्ते निकलते हैं। इसी समय ३-८ इञ्च लम्बी मंजरियों में रक्ताम या पोले रंग के १-२*५ इञ्च लम्बे फूल आते हैं और उन पर भूरे रंग की छीटें रहती हैं। फल-बड़े-बड़े के समान परन्तु कुछ लम्बाई लिये अष्टिल, अम्ब्यण्डाकार, *७५-१ इञ्च व्यास वाले और २-२ कोश तथा बीज वाले होते हैं। वे जेठ आषाढ़ तक पक कर भूमि में गिर पड़ते हैं।

इसके दो भेद भी पाये जाते हैं जिनमें से एक में पुष्पव्यूह बड़े होते हैं तथा दूसरे में पत्ते कुछ छोटे, चर्मल, अधर तल पर नसों जमरी हुई तथा पुष्पव्यूह छोटे होते हैं।

यह दशमूल गण की औषध है। इसका 'कासमर' नाम काश्मर्य का और 'गम्हार' गम्भारी की अपभ्रंश है। इसके फल, मूल, त्वक एवं पत्र का चिकित्सा में उपयोग होता है।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में पोतवर्ण का गाढ़ा तैल, राल, क्षाराम, अत्यन्त बेशोष्क यक्षिड एवं मैंगनीस रहित राख ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसके फल में ब्यूटिरिक (Butyric)

तथा टार्टरिक (Tartaric) अम्ल, क्षाराभ, शर्करासदृश पदार्थ, राल तथा अत्यल्प टैनिन ये पदार्थ पाये जाते हैं ।

गुण और प्रयोग—इसके कोमल पत्र शीतल तथा स्नेहन; फल वृषाहर, दाहशामक, स्नेहन एवं रक्तपित्तघ्न; मूल कटु, दीपन, बन्धक एवं आनुलोमिक; पुष्प बन्धक, शृष्य एवं रक्तपित्तनाशक; बीजतैल कफ एवं पित्त का शमन करने वाला है ।

(१) इसके कोमल पत्तों का स्वरस दुग्ध के साथ सोजक में देते हैं । ग्रीष्मऋतु में होने वाले शिरःशूल में पत्तों को दुग्ध में पीसकर सर पर मलते हैं ।

(२) दाह तथा वृषायुक्त पित्तक उ्वर में इसके फल की मज्जा का शीतल काय शर्करा मिलाकर पिळते हैं । रक्तपित्त में मधु के साथ इसके फल की मज्जा का प्रयोग किया जाता है । वायु के कारण गर्भशोष या बालशोष हो तो मुलेठी के साथ इससे सिद्ध दुग्ध का उपयोग लाभदायक होता है ।

(३) इसके मूल का काय उ्वर, अपचन तथा शोथ में देते हैं । मुलेठी के साथ बनाया हुआ इसका काय मधु एवं शर्करा मिलाकर दुग्धवृद्धि के लिये देते हैं । स्तनपुष्टि के लिये इसके रस से सिद्ध तिल तैल में रूई भिगोकर उसके धारण का विधान है ।

मात्रा—मूलचूर्ण ३-६ माशा; फल १-३ माशा ।

प्रतिनिधि एवं व्यामिश्रण—(क) अरिया कासमर या बूढीकासमर के नाम की एक अन्य वृक्ष जाति (*Premna flavescens* Ham.—प्रेम्ना फ्लेवसेन्स हॅम) भी पाई जाती है जिसके पत्ते गंभारी के पत्तों से मिलते-जुलते हैं । इसकी पत्तियों में एक मंद प्रिय गंध होती है और इसके पुष्प तथा फल बहुत छोटे होते हैं जिनसे इसका भेद मालूम हो जाता है ।

(ख) हि०—तुषी, पिंडार, धवलपेड, पानी-गन्धार । म०—सिवनी, पितारी । बं०—पितालि । ले०—*Trewia nudiflora* Linn. (द्वेविया न्युडिफ्लोरा लिन.) । Fam. Euphorbiaceae (यूफोर्बिएसी) ।

इसके भी गन्धार एवं सिवनी (म.) नाम होने के कारण वास्तविक गन्धार के स्थान पर इसका कहीं-कहीं प्रयोग लोग करते हैं । इसके बड़े-बड़े वृक्ष होते हैं । छाल-चिकनी और धूसर वर्ण की होती है । पत्ते-लट्वाकार, ३-८ इंच लंबे एवं ४-७ इंच चौड़े होते हैं । पर्णमूल गोल या हृदय और पर्णवृन्त १-५-४ इंच लंबा होता है । पुष्प-हरित-पीत होते हैं और नवीन पत्तियों के आने के पहले ही निकलते हैं । नरपुष्पों की मंजरियां ४-८ इंच लंबी और नीचे की ओर लटकी हुई तथा स्त्री-पुष्प एकाकी अथवा २-३ और अग्रय होते हैं । फल-पकने पर छोटे आलू के समान दिखाई देता है । नवीन शाखाओं पर जातच्युत उपपत्रों के कारण उभरी हुई स्पष्ट रेखाएं होती हैं जिनके द्वारा वास्तविक गन्धार से इसकी भिन्नता मालूम होती है । इसके अतिरिक्त गन्धार की तरह इसकी पत्ती में दो छोटी पीली ग्रन्थियां नहीं होती यद्यपि दोनों के शिराक्रम में बहुत साम्य होता है । इसके मूल का उपयोग किया जाता है । मूल की छाल मोटी एवं चिकनी हल्के भूरे रंग की होती है । इसका स्वाद कसैला एवं कड़वा होता है । आमवात एवं वातरक्त में मूल को खिलाते हैं तथा लेप करते हैं । इससे उदरवात, पित्त एवं आमदोष का निर्हरण होता है ।

अथ पाटला (पाटल) घण्टापाटलिश्च । तयोर्नामानि गुणांश्चाह

पाटलिः पाटलाऽमोघा मधुदूतो फलेरुहा । कृष्णवृन्ता कुबेराक्षी कालस्थाल्यलिबल्लभा ॥१९॥
ताम्रपुष्पी च कथिताऽपरा स्यात्पाटला सिता । मुष्कको मोक्षको घण्टापाटलिः काष्ठपाटला ॥२०॥

१. कालस्थाली इति पाठा० ।

पाटल तथा घण्टापाटल के नाम और गुण—पाटलि, पाटला, अमोघा, मधुदूती, फलेरुहा, कृष्णवृन्ता, कुबेराक्षी, कालस्थाली, अलिबल्लभा और ताम्रपुष्पी ये सब संस्कृत नाम 'पाटल' के हैं । और जो दूसरा 'घण्टापाटल' है उसके संस्कृत नाम—पाटला सिता, मुष्कक, मोक्षक, घण्टापाटलि तथा काष्ठपाटला ये सब हैं ॥ १९-२० ॥

पाटला तुवरा तित्काऽनुष्णा दोषत्रयापहा । अरुचिश्वाससोथाल्च्छर्दिहिकात्प्राहरी ॥ २१ ॥

पाटल—कषाय तथा तिक्तस युक्त एवं अनुष्णवीर्य है । यह त्रिदोष, अरुचि, श्वास, शोथ, रक्तप्रकोप, वमन, दिचकी और वृषा को दूर करने वाली है ॥ २१ ॥

अथ तत्पुष्पफलयोगुणानाह

पुष्पं कषायं मधुरं हिमं हृद्यं कफान्नुत् । पित्तातिसारहृत्कण्ठयं फलं हिक्काऽस्त्रपित्तहृत् ॥२२॥

इसके फूल तथा फल के गुण—फूल-कषाय तथा मधुररस युक्त, शीतवीर्य, हृदय को हितकर तथा कफ, रक्तविकार और पित्तातिसार का नाशक एवं कण्ठ के लिये हितकर है । फल-हिचकी तथा रक्तपित्त का नाशक है ॥ २२ ॥

नोट—भावप्रकाशकार पाटला के दो भेद लिखते हैं एक 'पाटला' तथा दूसरी 'सिता पाटला' । किन्तु दोनों के गुणों में कोई भेद नहीं लिखा है । आधुनिक ग्रन्थकारों ने भी इसके दो प्रकार के वृक्षों का वर्णन किया है जिसमें से नं० ५ (पाटला) के पुष्प बाहर से लाल किन्तु अन्दर से पीले रखाओं से युक्त होते हैं । यह दक्षिण में कम होने के कारण इसके स्थान पर वहाँ नं० ६ (सिता पाटला) का प्रयोग किया जाता है जिसके पुष्प पीले तथा गुलाबी रंग के होते हैं । श्री ठा० बलवन्तसिंह जी का मत है—काष्ठपाटला, मोक्षक यह भिन्न वर्ग तथा प्रजाति का वृक्ष है जिसका लैटिन नाम *Schrebera swietenoides* Roxb. (श्रेबेरा स्वीटेनोइडिस राक्स.) ; Fam. Oleaceae (ओलिएसी) है तथा इसी के क्षार को क्षारश्रेष्ठ कहा गया है । भावप्रकाशकार ने भी इसका (मोक्षक) स्वतंत्र वर्णन आगे वटादिवर्ग में किया है । इस दृष्टि से मोक्षक यह पाटला का पर्याय असमीचीन लगता है ।

५ पाटल

हि०—पाटल, पाडर, पारल । बं०—पारुल गाछ । म०, गु०—पाटल । क०—हुडै । उ०—बोरो, पाटली । पं०—पाटल, पाडल । कोल०—कंडियोर । सन्ता०—पपरी, पडेर । ने०—परैर । लि०—सिगियन । गोंड०—उन्तकार, पडर । मील०—पन, डन । मा०—पाडल, पडियालु । ले०—*Stereospermum suaveolens* DC. (स्टेरिओस्पर्मम् स्वावियोलेन्स डीसी) । Fam. Bignoniaceae (बिग्नोनिएसी) ।

यह प्रायः समस्त भारत, हिमालय की तराई से द्रावणकोर और टेन सर्रीम तक तथा सिलोन में किन्तु श्वेत भेद की अपेक्षा कुछ शुष्क भागों में पाया जाता है । इसका वृक्ष-३० से ६० फुट तक ऊँचा एवं सुन्दर होता है । इसके ऊँचे स्तम्भ पर शाखाएँ दिखाई पड़ती हैं । इसके नवीन भाग चिपचिपे, रोमश और ग्रन्थिमय होते हैं । छाल-चौथार्थ इंच मोटी, लगभग चिकनी, धूसर और काटने पर हल्के पीले रंग की होती है और उसमें कड़े तथा मुलायम पत्तें बारी बारी से निकलते हैं । पत्ते-विपरीत, १-२ फीट लम्बे और अयुग्म पक्षकार होते हैं । पत्रक-संख्या में ५-९ प्रायः ७, अण्डाकार या आयताकार, ३-८ इंच लम्बे, २-३॥ इंच चौड़े, वक्राकार लम्बाय, अवृन्त या छोटे

वृन्त वाले, प्रायः मृदुरोमश परन्तु छोटे पौधे के पत्रक खुरखुरे और तीक्ष्ण दन्तुर होते हैं। वसन्त ऋतु में इसके पुराने पत्ते गिरकर नवीन पत्ते निकल आते हैं और प्रायः इसी समय वृक्षों पर नलिकाकार फूल आते हैं। पुष्प-सुगन्धित, १-१.५ इञ्च लम्बे, बाहर से लाल परन्तु भीतर पीली रेखाओं से युक्त होते हैं। फलियाँ-१.८ से २.४ इञ्च तक लम्बी, गोल एवं पृष्ठ पर बिन्दुकित होती हैं। बीज-सपक्ष होते हैं और कर्कसदृश और लम्बगोल रचनाओं में छिपे रहते हैं।

यह मां दशमूलगण का एक प्रसिद्ध द्रव्य है। इसके फल के भीतर से लम्बगोल टुकड़े निकाल कर जुलपिर्ती तथा अथकपारी में बाँधे जाते हैं इसलिए कहीं-कहीं इस वृक्ष को अथकपारी कहते हैं। इसका छाल, पुष्प तथा फलमज्जा का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके सूखे हुए फूलों में शर्करा, एक तरह का लुभाव तथा मांसल पदार्थ पाये जाते हैं। पुष्प जल में डालने से जल सुगन्धित हो जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके पुष्प वाजीकर, पौष्टिक एवं शीतल होते हैं। इसकी छाल कफघ्न, वातहर, अधोभाग दोषहर, त्रिदोषघ्न, विषघ्न एवं शोधहर है।

कफ तथा वातप्रधान रोगों में पाटला का प्रयोग करते हैं।

(१) फूलों का रस मधु के साथ हिकी में देते हैं।

(२) मधुमेह, अश्वत्थी एवं मूत्राघात में इसके पंचांग का क्षार तैल के साथ खिलाते हैं।

(३) इसके छाल का फांट अम्लपित्त में देते हैं।

(४) इसके फूलों का गुलकन्द पौष्टिक माना जाता है।

(५) इसके मूल के धन काथ में तैल मिलाकर अग्निदग्ध त्रण पर लगाते हैं तथा कोमल पत्तों से त्रणदग्धन करते हैं।

मात्रा—चूर्ण १-३ माशा।

६ सफेद पादल (घंटा पादर)

हि०-सफेद पादल, पादर, परारी, घण्टा पादर, कठपादर। बं०-घंटा पारुल। म०, गु०-पाडल। ता०-पादिरि। ते०-कल्लिगेट्टु। कोल०-कडियोर। ने०-पररी। भील०-पडरनी। उ०-कोगारी पाटुली। अं०-Trumpet flower (ट्रम्पेट फ्लावर)। ले०-Stereospermum chelonoides DC. (स्टेरिओस्पर्मम केरोनॉइडिस डीसी.)।

यह आसाम से सिलोन तक की गीली भूमि में, कुमाऊँ के पहाड़ पर, मध्य और दक्षिण हिन्दुस्तान तथा राजपूताना आदि कई प्रान्तों में होता है। यह दक्षिण में पहाड़ी प्रान्तों में विशेषकर पाया जाता है।

इसका वृत्त-२०-४० फुट तक ऊँचा होता है तथा कहीं-कहीं ६० फुट तक ऊँचा वृक्ष भी देखने में आता है। स्तम्भ-सीधा, बहुत ऊँचा एवं मोटा होता है और उस पर अनेक शाखा-प्रशाखाएँ होती हैं। नीचे की शाखाएँ भूमि के समानान्तर एवं ऊपर की सीधी होती हैं। छाल-भूरे रंग की, मोटी तथा खुरदरी होती है। पत्ते-१२-२८ इञ्च लम्बे, अग्रम पक्षाकार, विपरीत और छोटी-छोटी दहनियों के अग्रपर समूहबद्ध होकर रहते हैं। पत्रक-सख्या में ७-११, चिकने, अंडाकार और ३.५-५ इञ्च बड़े होते हैं। फूल-बड़े, त्र्यकृति, पीले और गुलाबी रंग के, सुगन्धित एवं रुचिकर होते हैं। फलियाँ-१०-२० इञ्च लम्बी, पतली, घेरे में गोल न होकर सपक्ष या चार घुमरी हुई रेखाओं से युक्त होती हैं।

प्रथम पादल दक्षिण में कम मिलने के कारण वहाँ इस वृक्ष की छाल तथा पुष्प का पाटला के स्थान पर प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक रवेदार कडवा पदार्थ पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह शीतल, वातहर एवं ज्वरघ्न है। मस्तिष्क तथा वातनाडी संस्थान पर इसकी अवसादक क्रिया होती है।

इसके मूल का फांट ज्वर में रोगी को शांतता लाने के लिये देते हैं। इसके फूलों का रस पाचन ठीक होकर दूषित पित्त का निर्हरण हो इसलिये देते हैं।

मात्रा—चूर्ण १-३ माशा।

अथाग्निमन्थः। (अगेथू, अरनी इति च लोके) तस्य नामानि गुणांश्चाह

अग्निमन्थो जयःसस्याच्छीपर्णी गणिकारिका। जया जयन्ती तर्कारी नादेयी वैजयन्तिका ॥
अग्निमन्थः श्वयथुनुद्वीयोष्णः कफवातहत्। प्राण्डुनुत्कटुकस्तित्तस्तुवरो मधुरोऽग्निदः ॥२४॥

अगेथू या अरनी के नाम तथा गुण—अग्निमन्थ, जय, श्रीपर्णी, गणिकारिका, जया, जयन्ती, तर्कारी, नादेयी और वैजयन्तिका ये सब संस्कृत नाम 'अगेथू' या 'अरनी' के हैं। अरनी या अगेथू शोथनाशक, उष्णवीर्य, कफवात तथा पाण्डु रोग को दूर करने वाला, कटु, तिक्त, कषाय तथा मधुर रस युक्त एवं अग्निवर्धक है ॥ २३-२४ ॥

नोट—भावप्रकाशकार ने यद्यपि एक ही अग्निमन्थ का वर्णन किया है तथापि अन्य निबन्धों में छद्म एवं बृहद् ऐसे दो भेद अग्निमन्थ के लिये हैं। दोनों के गुणों में विशेष अन्तर नहीं है किन्तु लघु अग्निमन्थ को लेप, उपनाह एवं शोफ में विशेष उपयोगी लिखा है। 'लघ्वाग्निमन्थस्य गुणाः प्रोक्ताः बृद्धाग्निमन्थवत्। विशेषारूपेण चोपनाहे शोफे च कीर्तितः ॥' (नि. र.)। शुभ्रत के वरुणादि गण में तर्कारी और अग्निमन्थ ये दोनों शब्द आये हैं। इससे ऐसा मालूम होता है कि ये दोनों भिन्न द्रव्य हैं। आधुनिक ग्रन्थकारों ने प्रेम्ना इन्ट्रिफोलिआ (बृहद् अग्निमन्थ) एवं क्लेरोडेन्ड्रम फलोमाइडीस् (छुद्रा अग्निमन्थ) ऐसे दो द्रव्यों का वर्णन किया है। ये दोनों ही एक वर्ग के हैं तथा इनके गुणों में भी साम्य होने के कारण दोनों को एक दूसरे के स्थान में प्रयोग किया जा सकता है। इनमें से प्रथम को कुछ लोगों ने तर्कारी माना है तथा द्वितीय को अग्निमन्थ माना है। कुछ लोग इसके विपरीत मानते हैं जो अधिक उचित है क्योंकि क्ले० फलोमाइडीस् का स्थानिक नाम 'टेकार', तर्कारी का अपभ्रंश मालूम होता है। यहाँ दोनों का अलग अलग वर्णन दिया जा रहा है।

७ छुद्राग्निमन्थ

हिं०-अरनी (णी), टेकार, उरिन। बं०-अरनी, गणियारी। संथा-मनजोत। मुंगे०-रैन। गु०-अरणी। म०-ऐरण, टांकली। ता०-थलंजी ते०-तलूक। क०-तंगि। मल०-तिरुतालि। ले०-Clerodendrum phlomidis Linn. f. (क्लेरोडेन्ड्रम फलोमाइडीस् लिन.)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनेसी)।

यह महाराष्ट्र, गुजरात, सिंध आदि सब प्रान्तों में प्रायः बाड़ों पर या सूखी जगहों में पाई जाती है।

इसके गुल्म बड़े (छोटे वृक्ष), प्रायः शाखाएँ प्रसरणशील और दहनियाँ हल्के खाकी रंग की तथा मृदुरोमश होती हैं। पत्ते-विपरीत, चौड़े लट्वाकार अथवा कुछ-कुछ तिर्गयायताकार, अखण्ड या दूर-दूर गोलदन्तुर, प्रायः २×१.५ इञ्च बड़े, सवृन्त और मृदुरोमश (नवीन) या चिकने होते हैं। पुष्प-श्वेत, सुगन्धि, पत्रकोणिय या अग्रय गुच्छों में आते हैं। आभ्यन्तर नाल

*७५-२ इन्द्र बड़ा और मुख व्यास में *७५ इन्द्र होता है। फल-अष्टिक फल, करींदे इतने बड़े, शीर्ष पर दबे हुए परन्तु अन्त में शुष्क होकर चार खण्डों में फट जाते हैं। जानवरों के प्रवाहिका तथा कुमिरोग में क्षुद्राग्निमंथ का उपयोग ग्रामीण करते हैं। बृहद् अग्निमंथ के अभाव में इसके पंचांग, मूल तथा पत्र का उपयोग किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, दीपन, सारक, बल्य, रसायन, शोथहर एवं वातकफहर है।

वायु, कफ तथा सूजन जिन-जिन रोगों में होती है उनमें इसका उपयोग करते हैं। आमवात तथा अन्तरित ज्वर में इसकी जड़ सोंठ एवं मिरिच के साथ दी जाती है। इसके मूल का काथ सोलाक, विस्फोटक ज्वरों की रोगमुक्तावस्था, आमवात तथा नाडीशूल में देते हैं। इसके पत्र तथा काण्ड का उपयोग मधुमेह में उपयोगी पाया गया है। आध्मान में इसके पत्ररस से लाभ होता है। मोच तथा शरीरपीडा में पत्तों को पीसकर उसका लेप किया जाता है। खचा के रोगों में ३ औं पत्ररस दिन में दो बार पिलाते हैं।

मात्रा—चूर्ण १-२ माशा।

८ बृहदग्निमंथ

हि०—अरनी, अरणी, अंगेयु, गणियारी, गनियार, गनियारी, वाकर। बं०—नानि०, गनियारि। मा०—अरणी। म०—नरवेल, अरणी। पं०—अंगेयु, गनियार। गु०—अरणी। संथा०—कण्डा-मिया। फा०—गनियार। अवधी-गनियारी। गढ़वाल-बकोरवा। ता०—इरुमे मुल्ले, मुन्ने। ने०—गिनेरी। उडि०—गन्धीना। ते०—वेवुनेछि। मला०—अप्पेल। उल्क०—अगविथ। ले०—*Premna integrifolia Linn* (प्रेन्ना इन्टिग्रिफोलिया लिन)। Fam. Verbenaceae (वर्बिनेसी)।

बड़ बङ्गाल, बिहार, मध्यप्रदेश, अवध, गढ़वाल, राजपूताना, दक्षिण-हिन्दुस्तान, बर्मा, सिचोन तथा अन्यान्य प्रान्तों में विशेष रूप से समुद्री किनारों पर पाई जाती है।

इसका झाड़ीदार वृक्ष-२०-२५ फुट तक ऊँचा होता है। स्तम्भ छोटा तथा बहुत सी कटिदार टहनियाँ नीचे लटकती हुई रहती हैं। छाल-पतली सफेदी-युक्त इलके पीले रंग की और लकड़ी इलकी किंचित दृढ़ होती है। पत्ते-विपरीत, लंबे, पर्णवृन्त से युक्त, साधारण हृदयाकृति किन्तु अग्र कुछ कटा हुआ तथा चिकने रहते हैं। चैत्र-वैशाख में छोटे-छोटे हरापन लिये सफेद रंग के फूल झूमकों में आते हैं। फल-छोटी मकोय के समान झूमकों में लगते हैं और पकने पर काले हो जाते हैं। पूरे वृक्ष में एक प्रकार की उग्र गंध आती है। इसका स्वाद खट्टा सा तथा कषाय रहता है। इसके मूल तथा पत्तों का व्यवहार किया जाता है।

इसका एक अन्य भेद प्रेन्ना लॅटिफोलिया राक्स. (*Premna latifolia Roxb.*) पाया जाता है। इसके पत्ते कुछ-कुछ दुर्गन्धयुक्त, प्रायः लट्वाकार, कभी-कभी अंडाकार, २-५ इंच लंबे, २-३ इंच चौड़े, अखंड, लंबे नोकवाले तथा एक ओर (नीचे) या नवीन रहने पर दोनों तलों पर सुदुरोमश होते हैं। पुष्पव्यूह-त्रि-विभक्त और व्यास में २-५ इंच, रोमश और कोण पुष्पकों से युक्त होता है। बाह्यकोश शीर्ष पर दन्तुर होता है और दांत पांच होते हैं। आभ्यन्तर कोश स्पष्टतः द्व्योष्ठ होता है। फल-गोल, अग्रपर दबा हुआ और २५ इंच बड़ा होता है।

इसका जो भेद इन प्रान्त के शाल वनों में मिलता है उसे प्रे० मक्रोनॅटा राक्स. (*P. macro-nata Roxb.*) कहते हैं। यह नम स्थानों में प्रायः बहुत बड़ा हो जाता है। नवीन शाखाओं पर प्रायः १-३ इंच लंबे मजबूत काटे होते हैं और इनकी पत्तियाँ तीन-तीन या चार-चार एक चक्र में होती हैं। काट प्रायः ३ इंच मोटा, सफेद और बिना रेशे का होता है। पत्तियाँ मसलने पर

गंधयुक्त और सूखने पर काली हो जाती है। इस वृक्ष की लकड़ियों को परस्पर रगड़ने से आग पैदा होती है। इसके अन्य भी कई भेद होते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कट्ट, उष्ण, तिक्त, शोथघ्न, वातहर, दीपन, श्लेष्मघ्न, ज्वरघ्न, सारक, शीत प्रशमन, अनुवासनोपग तथा गर्भाशय के लिये अवसादक है।

इसका प्रयोग वातरोग, कफरोग, शोथ, आमवात, नाडीशूल, पांडु, अर्श, अग्निमंथ, विबंध, प्रतिश्याय, ज्वर एवं पायायिक तथा विस्फोटक ज्वर में किया जाता है।

(१) इसकी २ छटाक जड़ को चौथुने जल में १५ मिनट उबाल कर १-२ छटाक की मात्रा में दीपन, पाचन, पौष्टिक रूप में दो बार पिघाते हैं।

(२) गंडमाळा तथा शोथ में इसको छिलते हैं तथा बाह्य लेप भी करते हैं। ग्रन्थि पर बांस के पत्तों के साथ इसकी जड़ का लेप करने से लाभ होता है।

(३) अर्श में इसके काथ में बैठाने से पीड़ा शांत होती है।

(४) उरुस्तम्भ में इसकी जड़ को गोमूत्र में पीस कर लेप करते हैं या करंज के साथ काथ बनाकर उससे सिंचन करते हैं।

(५) वसामेह तथा इक्षुमेह में इसकी जड़ का काथ पिलाया जाता है।

(६) इसकी जड़ को पीसकर घृत के साथ सेवन करने से १ सप्ताह में शीतपित्त, उदर तथा कोठ आदि अच्छे होते हैं।

(७) अतिस्थौव्य में इसका रस दिया जाता है।

मात्रा—चूर्ण १-२ माशा।

अथ श्योनाकः (सोनापाठा-अरळू) । तस्य नामानि गुणांश्चाह

श्योनाकः शोषणश्च स्यान्नटकटवङ्गदण्डकाः । मण्डूकपर्णपत्रोर्णशुकनासकुटन्नटाः ॥ २५ ॥
दीर्घवृन्तोऽरळूश्चापि पृथुशिम्वः कटम्बरः । श्योनाको दीपनः पाके कटुकस्तुचरो हिमः ।

ग्राही तिक्तोऽनिलश्श्लेष्मपित्तकासप्रणाशनः ॥ २६ ॥

सोनापाठा या अरळू के नाम तथा गुण—श्योनाक, शोषण, नट, कटवङ्ग, दण्डक, मण्डूकपर्ण, पत्रोर्ण, शुकनास, कुटन्नट, दीर्घवृन्त, अरळू, पृथुशिम्व और कटम्बर ये सब संस्कृत नाम 'सोनापाठा' के हैं। सोनापाठा-अग्निदीपक, पाक में कटुरस तथा स्वाद में कषाय और तिक्तरस से युक्त, शीत-वीर्य और मलसंग्राहक है। यह वात, कफ, पित्त तथा कास का विनाशक है ॥ २५-२६ ॥

अथ श्योनाकस्य बालप्रौढफलयोगुणानाह

दण्डकस्य फलं बालं रुचं वातकफापहम् ॥ २७ ॥

हृद्यं कषायं मधुरं रोचनं लघु दीपनम् । गुल्मार्शःकुमिहत् प्रौढं गुरु वातप्रकोपणम् ॥ २८ ॥

इसके कोमल तथा प्रौढ फल के गुण—सोनापाठा का कोमल फल रुचक, वातकफनाशक, हृदय को हितकर, कषाय तथा मधुररस युक्त, रोचक, लघु तथा अग्निदीपक एवं गुरु, बवासीर तथा कुमि का नाशक होता है। इसका प्रौढ (पूरा तैयार) फल-गुरु तथा वात को प्रकुपित करने वाला होता है ॥ २७-२८ ॥

९ सोनापाठा

हि०—सोनापाठा, शोनाक, सोनपत्ता, टेंडू, अरलु। बं०—शोण, सोनागाछ। म०—टेंडू। गु०—टेंडू। ते०—दुन्दिलुम, पंपन। उ०—यम्पोनिया। पं०—मुलिन, ताप्लङ्ग। ता०—पन, बंग। ने०—तोतिष्ठ। कोल०—अरेंगेवुं। सन्ता०—बनहाटक। गौड०—जयमंगल। आसा०—केरिंग। का०—तातर। चर्मा—क्योग—शा। सिलो०—तोतिष्ठ। ले०—*Oroxylum indicum Vent.* (ओरोक्साइलम इण्डिकम वेन्ट)। Fam. Bignoniaceae (बिग्नोनिएसी)।

यह सब प्रान्तों में कहीं-कहीं पाया जाता है किन्तु पश्चिम प्रान्त की सूखी भूमि में यह देखने में नहीं आता।

इसका वृक्ष-मध्यमाकार का होता है तथा शाखाएँ थोड़ी होती हैं। छाल—चौथाई इंच तक मोटी, कार्कयुक्त तथा बादामी सफेद रङ्ग की चिकनी, हल्की और कोमल होती है। इसको काटने से किंचित हरियाली लिये रस निकलता है। काट-३-१ इंच मोटा, अन्दर की ओर रेशेदार, पीला और बाहर की ओर हरिताम होता है। लकड़ी—पीलापन युक्त सफेद, हल्की और साररहित होती है। पत्ते—२-४ फीट लम्बे, द्विपक्षवत् सदल तथा शाखाओं पर प्रायः समूहबद्ध होकर पाये जाते हैं। पत्रनाल और पत्रदण्ड पर दाने पड़े होते हैं। पत्रक—२॥ ५ इंच लम्बे, १॥-४ इंच चौड़े, लट्वाकार या अण्डाकार, लम्बाय तथा अखण्ड होते हैं। फूल—बहुत बड़े, मांसल और जासुनी रंग के तथा अग्र्य मंजरियों में सघनकाण्डज क्रम से निकले रहते हैं। इनकी गन्ध अच्छी नहीं होती। फलियाँ—१-३ फुट लम्बी, २-३॥ इंच चौड़ी, चिपटी, तलवार के समान टेढ़ी एवं कठोर होती हैं। बीज—सफेद, विशदे, गोल, २-३ इंच व्यास वाले तथा आधारे के अतिरिक्त चारों ओर पंखयुक्त होते हैं। इसके मूल की छाल का दशमूल में उपयोग किया जाता है। यह हल्के पीले रंग की रहती है तथा इसका रवाद कुछ कड़वा तथा कुछ तीता रहता है। इसमें गन्ध नहीं होती।

रा० नि० ने इसके यद्यपि दो भेद लिखे हैं तथापि गुणों में अन्तर नहीं लिखा है। कुछ लोग 'अरलु' नाम से *Ailanthus excelsa Roxb.* (ऐलेन्थस एक्सेल्सा राक्स.) लेते हैं और उसी को रा० नि० का श्योनाक भेद मानते हैं। ऐलेन्थस एक्सेल्सा को कुछ लोगों ने महानिब माना है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में ओरोक्साइलिन (*Oroxylum*) नामक एक कड़वा-रवेदार ग्लूकोसाइड, कटुपदार्थ, पेक्टिन, तैल एवं मोम आदि पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—सोनापाठा के मूल की छाल उत्तम स्वेदजनन, कुछ वेदनास्थापन, दीपन, बस्तिरोगहर, स्तम्भन, द्रवरोपण एवं शोथहर है। इसके बीज रेचक होते हैं। इसकी छाल का प्रयोग आमवात, अतिसार, कास, अरुचि एवं ज्वर में किया जाता है।

(१) शोथ तथा वातप्रधान रोगों में श्योनाकमूल देते हैं। यह नवीन आमवात में बहुत लाभ करता है। सोंठ के साथ इसका फाट (१ : १०) बनाकर १ औंस दिन में त्रिवार देते हैं। इसके चूर्ण के साथ अफीम मिलाई जा सकती है। यह डोवरस पाउडर (*Dover's powder*) की अपेक्षा उत्तम स्वेदजनन तथा वेदनाहर है। छाल का काथ अधिक स्तम्भन होने के कारण इसके फाट का प्रयोग उचित है। विवन्ध होने पर एरंड तैल का प्रयोग करना चाहिये। आमवात में इसके काथ से शोथयुक्त संधियों को सँकते हैं जिससे सूजन तथा पीड़ा कम होती है।

(२) इसकी छाल के कल्क तथा पञ्चनेसर को गंभारी एवं कमरु के पत्तों में लपेटकर, पुटपाक करके निकला हुआ रस शीत होने पर मधु मिलाकर, अतिसार में दिया जाता है।

(३) इसकी छाल से सिद्ध तैल का उपयोग कर्णस्त्रव तथा कर्णशूल में किया जाता है। बहुत दिन के प्रयोग के बाद इससे लाभ होता है।

(४) कहा जाता है कि अठन्नी भर छाल पीसकर छानकर दूध के साथ पिलाने से भिर्गी में लाभ होता है।

(५) कर्णमूल शोथ में इसके बीज और हरिमेद दोनों पीसकर लगाये तथा पिलाये जाते हैं। मात्रा—चूर्ण १०-२० र० त्रिकटु के साथ।

अथ बृहत्पञ्चमूलम् । तस्य लक्षणं गुणांश्चाह

श्रीफलः सर्वतोभद्रा पाटला गणिकारिका । श्योनाकः पञ्चभिश्चैतैः पञ्चमूलं महन्मतम् ॥२९॥
पञ्चमूलं महत् तिक्तं कषायं कफवातनुत् । मधुरं श्वासकासघ्नमुष्णं लघ्वग्निदीपनम् ॥ ३० ॥

बृहत् पञ्चमूल के लक्षण तथा गुण—बेल, गम्भारी, पाठल, अरनी और सोनापाठा इन पाँचों वृक्षों के मूल एकत्र करने से 'बृहत् पञ्चमूल' होता है। बृहत् पञ्चमूल—तिक्त, कषाय तथा मधुर रसयुक्त, कफवात-नाशक एवं श्वास तथा कास को दूर करने वाला, उष्णवीर्य, लघु और अग्निदीपक होता है ॥ २९-३० ॥

अथ शालपर्णी (सरिवन) तस्या नामानि गुणांश्चाह

शालपर्णी^१ स्थिरा सौम्या त्रिपर्णी पीवरी गुहा ।

विदारिगन्धा दीर्घाङ्गी^२ दीर्घपत्रांशुमत्यपि ॥ ३१ ॥

शालपर्णी गुरुश्चर्द्धिज्वरश्वासातिसारजित् ॥ ३२ ॥

शोषदोषत्रयहरी बृंहण्युक्ता रसायनी । तिक्ता विषहरी स्वादुः क्षतकासकृमिप्रणुत् ॥३३॥

'सरिवन' के नाम तथा गुण—शालपर्णी, स्थिरा, सौम्या, त्रिपर्णी, पीवरी, गुहा, विदारिगन्धा, दीर्घाङ्गी, दीर्घपत्रा तथा अंशुमती ये सब संस्कृत नाम 'सरिवन' के हैं। सरिवन-पाक में गुरु और वमन, ज्वर, श्वास, अतिसार, शोष तथा त्रिदोष का नाशक है एवं बृंहण, रसायन, तिक्त तथा मधुर रसयुक्त और विष, क्षयकास तथा कृमि का भी नाशक है ॥ ३१-३३ ॥

१० शालपर्णी

हि०—सरिवन, सालवन, गौरी, सर, दिथ रौथ। बं०—शालपान, शलपानी, छालानी। म०—सालवण, रानभाल। पं०—सरिवन, समेर। गु०—सालवण, समेरवो, पांढडियो। क०—भुरई शेंवरा मरुवल होने, मरुल होने, काडगांजि। ते०—सप्या कुपोव, सप्या कपोवा, शिया कुपना, कोल कुपोना, गिता नरम। उ०—शार पाणि। ले०—*Desmodium gangeticum DC.* (डेस्-मोडिअम गॅन्जेटिकम् डीसी.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह भारत में प्रायः सर्वत्र प्राप्त होती है विशेषकर दून के शाल वनों में अधिक होती है।

इसके पौधे (उपक्षुप)—त्वाबलम्बी परन्तु सुकी और फैली हुई शाखाओं से युक्त और २-४ फीट ऊँचे होते हैं। काण्ड—किंचित कोणदार होते हैं। पत्ते—एकपत्रक, ३-६ इंच लंबे,

१. शालपर्णी इति पाठा० ।

२. दीर्घाङ्गी इति पाठा० ।

भिन्न भिन्न चौड़ाई के भालाकार-आयताकार या कम चौड़े और लट्वाकार तथा क्रमशः तीक्ष्णाग्र होते हैं। इनका अपर पृष्ठ मसृण, हरे रंग का और अधर पृष्ठ फीके हरे रंग का और रोमश होता है। पुष्प-श्वेताभ गुलाबी या जामुनी रंग के और ६-१२ इञ्च लंबी, विरल, पतली तथा अग्रथ मंजरियों में श्रावणमास में लगते हैं। फली-आधा से पौन इञ्च लंबी, ६-८ संघियों की, टेढ़ी और टेढ़े सूक्ष्म रोमों से युक्त होने के कारण कपड़ों में चिपक जाने वाली होती है। जमीन पर फैले हुये अथवा न्यूनाधिक स्वावलंबी दोनों प्रकार के पौधे होते हैं। अल्प वृद्धि वाले पौधों में पत्ते केवल ३-१३ इञ्च लंबे और अति वृद्धि वाले पौधों में २-६ इञ्च लंबे पत्ते होते हैं। इसके पत्तों का आकार शालपर्ण सदृश होने के कारण इसे शालपर्णी माना जाता है। इसके मूल तथा पंचांग का चिकित्सा में प्रयोग किया जाता है। इस जाति तथा वर्ग के कुछ अन्य पौधों को भी शालपर्णी के नाम से ग्रहण कर लिया जाता है।

शालपर्णी और पृश्निपर्णी के विषय में वैद्यों में मतभेद है। कहीं-कहीं के वैद्य उसे शालपर्णी मानते हैं जिसे आगे पृश्निपर्णी लिखा गया है और इस शालपर्णी को वे पृश्निपर्णी मानते हैं। पृश्निपर्णी के पर्याय में क्रोष्टुविन्ना शब्द आया है जो *Urtica* (यूरिआ) जाति की पुच्छाकार मंजरी वाले क्षुपों के लिये ही उपयुक्त हो सकता है। इस दृष्टि से *Urtica picta* Desv. (यूरिआ पिक्टा डेस्व.) को पृश्निपर्णी मानना उचित मालूम पड़ता है। *Urtica lagopoides* DC. (यूरिआ लॅगोपोइडिस् डीसी.) के पत्र शालपत्र जैसे होने के कारण उसे शालपर्णी माना जा सकता है। कुछ लोग शालपर्णी से शालिधान्य के क्षुप जैसे पत्र वाले क्षुप मानते हैं। इसी तरह इसके विभिन्न निघण्टुओं में दिये हुये पर्याय नामों के आधार पर लोग विभिन्न क्षुपों को शालपर्णी या पृश्निपर्णी सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं।

गुण और प्रयोग—शालपर्णी उष्ण, ज्वरघ्न, शोथघ्न, मूत्रजनन, बल्य, रसायन, वयस्थापन, बुद्धि, सर्वदोषहर, अंगमर्द प्रशमन तथा विषघ्न है। इससे मूत्रदाह कम होता है।

इसका प्रयोग ज्वर, वातरोग, अतिसार, वमन, शोथ, प्रमेह, अर्श, कुमि, राजयक्ष्मा एवं क्षत कास में किया जाता है। श्वासनलिकाशोथ, फुफ्फुसशोथ तथा सूतिकाज्वर में इससे विशेष लाभ होता है। इसके पंचांग के कषथ में कालीभिर्च मिलाकर रक्तविकार में प्रयोग करते हैं।

मात्रा—चूर्ण ३-१ तोला।

अथ पृश्निपर्णी (पिठवन) तस्या नामानि गुणांश्चाह

पृश्निपर्णी पृथक्पर्णी चित्रपर्ण्यहिपर्ण्यपि^१।

क्रोष्टुविन्ना सिंहपुच्छी कलशी धावनिर्गुहा ॥ ३४ ॥

पृश्निपर्णी त्रिदोषघ्नी वृष्योष्णा मधुराऽसरा।

हन्ति दाहज्वरश्वासरक्तातीसारवृद्धचमीः ॥ ३५ ॥

पिठवन के नाम तथा गुण—पृश्निपर्णी, पृथक्पर्णी, चित्रपर्णी, अहिपर्णी, क्रोष्टुविन्ना, सिंह-पुच्छी, कलशी, धावनी और गुहा ये सब संस्कृत नाम पिठवन के हैं। पिठवन-त्रिदोष को दूर करने वाली, वृष्य, उष्णवीर्य, मधुररस युक्त तथा संग्राही होती है। यह दाह, ज्वर, श्वास, रक्तातिसार, तृषा और वमन को दूर करती है ॥ ३४-३५ ॥

१. अहिपर्ण्यपि इति पाठा०।

११ पृश्निपर्णी (१)

हि०-पिठवन, हात्रा। बं०-शंकरजया। पं०-देतेर्दानी। म०-पृश्निपर्णी, पिठवन। गु०-पीठवन, पीलो समेरवो। ले०-*Urtica picta* Desv. (यूरिआ पिक्टा डेस्व.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह देहरादून और बाहरी हिमालय में प्रायः ऊसर भूमि एवं खुले हुए जंगलों में पाया जाता है।

इसके क्षुप-२-६ फीट ऊँचे, स्वावलंबी तथा अल्प शाखाओं वाले होते हैं जिसमें पत्ते एक ही क्षुप में भिन्न तरह के होते हैं। पत्ते-नीचे के पत्ते छोटे और लगभग वृत्ताकार, इनके ऊपर ३-५ पत्रक सदलपर्ण जिनके पत्रक रेखाकार और इनके साथ कभी-कभी बड़े-बड़े आयताकार, भालाकार, ६×१३ इञ्च बड़े अपत्रक पर्ण भी रहते हैं। ऊपर के पत्ते ५-९ पत्रक तथा पत्रक ३-६ इञ्च बड़े होते हैं। पत्रकों के मध्य में पीलापन लिये भूरे या पीले सफेद रंग के पट्टे होते हैं। पुष्प-छोटे, लाल और ३-४ इञ्च लम्बी, सघन, अग्रथ और रंभाकार मंजरियों में निकले रहते हैं। फलवती होने पर ये मंजरियां पुच्छाकार मालूम होती हैं। फली-छोटी तथा ३-६ संघियों वाली होती है। अधिकांश लोग इसे पृश्निपर्णी मानते हैं। इसे शालपर्णी मानना उचित नहीं है। पृश्निपर्णी (२) को शालपर्णी माना जा सकता है क्योंकि उसके पत्र शालपत्र जैसे होते हैं।

गुण और प्रयोग—पृश्निपर्णी उष्ण, लघु, त्रिदोषघ्न, दीपनीय, वृष्य, वातहर, संग्राही, सन्धानीय, शोथहर, अंगमर्द प्रशमन तथा जीवाणुनाशक है।

इसका उपयोग ज्वर, कास, रक्तातिसार, रक्तार्श, तृषा एवं दाह में किया जाता है।

(१) बला तथा पृश्निपर्णी का कषथ, रक्तार्श एवं मदात्यय में लाभदायक है।

(२) अस्थिभंगन में मांसरस के साथ इसके मूल का चूर्ण २१ दिन तक सेवन करना चाहिये।

(३) इसके पंचांग का स्वरस फुरसा (*Echis carinata*) नामक सर्प के विष में लाभदायक माना जाता है।

मात्रा—३-१ तोला।

१२ पृश्निपर्णी (२)

हि०-पिठवन, पिठोनी, पितवन। बं०-चाकुले, चाकुलिआ। म०-डवला, पिठवन। पं०-पिठोनी, पिठोनी। मा०-पिठवन। गु०-नहानो समेरवो। क०-नवियल बोने। ते०-कोलकु-पौत्रा। ले०-*Urtica lagopoides* DC. (यूरिआ लॅगोपोइडिस् डीसी.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह नेपाल, बंगाल, छोटानागपुर तथा अन्य उष्ण प्रान्तों के जंगली स्थानों में होती है।

इसके क्षुप-बहुवर्षीय काष्ठीय मूल से प्रतिवर्ष निकलते हैं। शाखाएँ-प्रसरी या अत्यन्त-प्रसरी और लगभग १२ इञ्च लम्बी होती हैं, जो मूल के समीप निकलती हैं। पत्ते-किंचित वृत्ताकार या चौड़ाई लिये हुए आयताकार, एकपत्रक और त्रिपत्रक दोनों प्रकार के पत्ते मिले हुए या कभी-कभी केवल अपत्रक पत्ते होते हैं। पुष्प-पुष्पमंजरी ८-१२ इञ्च तक लम्बी, गोल तथा पुच्छाकार होती है जो स्थायी बालकोश के पंख सदृश खण्डों के कारण बहुत सघन और श्यालपुच्छ (क्रोष्टुविन्ना) जैसी दिखाई देती है इसीसे कहीं-कहीं जंगलों में इसे सियारपुच्छिया भी कहते हैं। फली-एक इञ्च लम्बी, टेढ़ी-मेढ़ी तथा चिकनी होती है। इसके मूल का व्यवहार किया जाता है।

इसकी एक अन्य जाति युरेरिया हॅमोसा वाल. (*Uraria hamosa* Wall.) होती है जिसमें मंजरियाँ लम्बी परन्तु सघन नहीं होतीं तथा पर्ण अपत्रक या त्रिपत्रक होते हैं। इसे उड़ीसा में सालपानी (शालपर्णी) कहते हैं। वस्तुतः 'सालपानी' नाम कई जाति के पौधों को दिया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह रसायन, बल्य, श्लेष्मघ्न एवं त्रिदोषघ्न है। इसके मूल का व्यवहार ३-१ तोला की मात्रा में किया जाता है।

अथ वार्त्ताकी (बड़ी कटेरी) तस्या नामानि गुणांश्चाह

वार्त्ताकी क्षुद्रभण्टाकी महती बृहती कुली ।
हिङ्गुली राष्ट्रिका सिंही महोद्गी दुष्प्रधर्षिणी ।
बृहती ग्राहिणी हृद्या पाचनी कफवातहृत् ॥ ३६ ॥
कटुतिक्ताऽऽस्य वैरस्य मलारोचकनाशिनी ।
उष्णा कुष्ठज्वरश्वासशूलकासाग्निमान्द्यजित् ॥ ३७ ॥

बड़ी कटेरी के नाम तथा गुण—वार्त्ताकी, क्षुद्रभण्टाकी, महती, बृहती, कुली, हिङ्गुली, राष्ट्रिका, सिंही, महोद्गी और दुष्प्रधर्षिणी ये सब संस्कृत नाम बड़ी कटेरी के हैं। बड़ी कटेरी—संप्राही (मलरोधक), हृदय को हितकर, पाचक, कफवातनाशक, कटु तथा तिक्तरसयुक्त होती है। यह मुखकी विरसता तथा मल और अरुचि का नाश करने वाली, उष्णवीर्य तथा कुष्ठ, ज्वर, श्वास, शूल, कास और अग्नि की मन्दता इन सबों को दूर करने वाली होती है ॥ ३६-३७ ॥

३३ बृहती (बड़ी कटेरी)

हि०-बनभंटा, बनमांटा, बड़ी कटार्ई, बड़ी कटेरी, बरहंटा, अंजड । बं०-व्याकुड, व्याकुर । स०-डोरले, चिचुरटी वांगी । गु०-उभी रिंगणी । ते०-तेल्ल मुलक । ता०-पप्पर मुवली । क०-किरिगुलि । मा०-उमोकटाली । मला०-चेरुचुण्ड । पं०-कंडयारी । फा०-कटार्ई कल्लो । ले०-*Solanum indicum* Linn. (सोलैन्म इण्डिकम् लिन.) । Fam. Solanaceae (सोलेन्सी) ।

यह भारत के प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाई जाती है, विशेषकर ऊसर भूमि में अधिक मिलती है।

इसका छुप-३-६ फीट ऊँचा ठीक भण्टे के छुप के समान होता है। शाखाएँ-श्वेत रोमश और किंचित टेढ़े तथा मृदु कांटों से मरी रहती हैं। पत्ते-३ से ६ इंच तक लम्बे तथा १ से ४ इंच तक चौड़े, कटे किनारे वाले या लहरदार, ठीक भण्टे के पत्तों के आकार के लट्ठाकार या आयताकार होते हैं। अवरतल पर रोमश होने के कारण ये मैले सफेद रंग के और ऊपरी तल पर तारकाकार रोमों के कारण कुछ-कुछ खुरखुरे होते हैं। नीचे के तल पर मध्यपशुंके पर अथवा नसों पर मृदु कंटकों से युक्त रहते हैं। फूल-भंटा के फूल के समान बैंगनी रंग के या कभी-कभी श्वेताभ, ७५ इंच व्यास के और पांच दल वाले होते हैं। फल-गोल, कच्ची अवस्था में हरे, पकने पर पीले, तिहारई इंच व्यास के एवं प्रायः चिकने होते हैं। इनका स्थायी बाह्यकोश पहले जैसा छोटा ही रहता है। फल तथा फूल सालभर लगते रहते हैं। ताजे फल कड़वे तथा कटु रहते हैं लेकिन सूखने पर इनका कड़वापन चला जाता है।

इसका एक भेद ठंडे तथा आर्द्र स्थानों में पाया जाता है जिसे ले०-*Solanum torvum* Swartz (सोलैन्म टॉर्वम् स्वाह) तथा सं०-श्वेतबृहती कहते हैं।

इसके छुप-६-१० फीट ऊँचे तथा उपयुक्त बृहती के समान होते हैं। ये अधिक ऊँचे, सीधे तथा शाखाएँ अल्प, सीधी, प्रायः मुलायम और उन पर कटि बहुत कम होते हैं। पत्ते-३-७ इंच लम्बे, २-४ इंच चौड़े, ऊपर कम और नीचे अधिक रोमश (रोम तारकाकार) होते हैं। कटि भी प्रायः मध्यशिरा पर नीचे की ओर केवल एक या दो होते हैं। फूल-श्वेत तथा बाह्यकोश में कटि नहीं होते। फल-पहले से बड़े, ५ इंच व्यास के तथा पीले होते हैं।

इसका एक अन्य भेद शुष्क भागों में पाया जाता है जिसे ले०-*Solanum melongena* Linn. (सोलैन्म मेलोंगेना लिन.) एवं हि०-बनभण्टा, जंगली बैंगन, रोको, ठोको, गठेगनी कहते हैं।

यह बैंगन की ही जंगली जाति होती है जिसमें कटि होते हैं। पत्ते-अंडाकार, ४-७ इंच बड़े, न्यूनाधिक अखंड, लहरदार या किंचित खंडित (खंडगोल) होते हैं। फूल-नीले और प्रायः व्यास में १ इंच होते हैं। बाह्यकोश फल में बड़ा हुआ रहता है। फल-चिकने, श्वेताभ-पीत, गोल और व्यास में करीब १ इंच होते हैं। इसके कुषिजन्य भेद में फल के रंग तथा आकारदि में बहुत भिन्नता आ जाती है।

नोट—प्राचीनों ने बृहतीद्वय का उल्लेख किया है जिससे कुछ लोग बृहती (बड़ी कटेरी) तथा कंटकारी (मटकटैया) ये दो द्रव्य लेते हैं। कुछ लोगों का मत है कि बृहतीद्वय अलग है तथा कंटकारी अलग है। बृहती के कई भेद प्राप्त भी होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें सोलेनीन एवं सोलेनिडीन नामक दो क्षाराम पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, दीपन, पाचन, आही, वातघ्न, कफघ्न, हृद्य, कण्ठ्य, द्विकानिग्रहण, शोथहर तथा अंगमर्द प्रशमन है।

इसका मूल कफ रोगों में दिया जाता है। इससे ज्वर कम होता है एवं श्वासावरोध कम होता है। इसके प्रयोग से उदरगत वात कम होने से शूल एवं मरोड़ दूर होती है। मूत्रकुच्छ्र में इसका उपयोग करते हैं। त्वग्रोगों में इसके पत्तों का लेप किया जाता है। वमन रोकने के लिये इसके पत्तों का स्वरस आर्द्रक के साथ पिलाते हैं। इसके फल अग्निदीपक माने जाते हैं तथा शिरःशूल में इसका लेप लाभदायक होता है।

मात्रा—चूर्ण १-२ माशा ।

अथ कण्टकारी (भटकटैया, कटेरी) । तस्या नामान्याह

कण्टकारी तु दुःस्पर्शा क्षुद्राव्याघ्री निदिग्धिका । कण्टालिका कण्टकिनी धावनी बृहती तथा ॥

भटकटैया के नाम—कण्टकारी, दुःस्पर्शा, क्षुद्रा, व्याघ्री, निदिग्धिका, कण्टालिका, कण्टकिनी, धावनी और बृहती ये सब संस्कृत नाम भटकटैया के हैं ॥ ३८ ॥

ॐ उभे च बृहत्सौ । यत आह सुश्रुतः—

क्षुद्रा या क्षुद्रभण्टाकी बृहतीति निगद्यते ॥ ३८ ॥

दोनों ही अर्थात् बड़ी कटेरी तथा भटकटैया (छोटी कटेरी) 'बृहती' कहलाती हैं क्योंकि 'सुश्रुत' महर्षि ने भी कहा है कि—क्षुद्रा (भटकटैया) और क्षुद्रभण्टाकी (बड़ी कटेरी) जो यह दो प्रकार की कटेरी होती है वे दोनों ही 'बृहती' नाम से कहलाती हैं ॥ ३८ ॥

अथ श्वेतपुष्पायाः कण्टकार्या नामान्याह

श्वेता क्षुद्रा चन्द्रहासा लक्ष्मणा क्षेत्रदूतिका । गर्भदा चन्द्रमा चन्द्री चन्द्रपुष्पा प्रियङ्गुरी ॥३९॥

सफेद फूल वाली भटकटैया के नाम—श्वेता, क्षुद्रा, चन्द्रहासा, लक्ष्मणा, क्षेत्रदूतिका, गर्भदा, चन्द्रमा, चन्द्री, चन्द्रपुष्पा और प्रियङ्गुरी ये सब संस्कृत नाम सफेद फूल वाली भटकटैया के हैं ॥ ३९ ॥

अथ कण्टकारीगुणानाह

कण्टकारी सरा तिक्ता कटुका दीपनी लघुः ॥ ४० ॥

रूक्षोष्णा पाचनी कासश्वासज्वरकफानिलान् । निहन्ति पीनसं पार्श्वपीडाकृमिहृदामयान् ॥४१॥

भटकटैया के गुण—भटकटैया—दस्तावर, तिक्त तथा कटुरसयुक्त, अग्निदीपक, लघु, रूक्ष, लष्णवीर्य और पाचक होती है। यह खाँसी, श्वास, ज्वर, कफ, वात, पीनस, पार्श्वपीडा (पसुली का दर्द), कृमि तथा हृद्रोग इन सबों को दूर करती है ॥ ४०-४१ ॥

अथ कण्टकारीद्वयफलगुणानाह

तयोः फलं कटुरसे पाके च कटुकं भवेत् । शुक्रस्य रेचनं भेदि तिक्तं पित्ताग्निक्वल्बु ॥

हन्यात्कफमरुत्कण्डूकासभेदःकृमिज्वरान् ॥ ४२ ॥

दोनों कटेरियों के फल के गुण—छोटी तथा बड़ी कटेरी के फल—पाक में कटुरसयुक्त, शुक्र का रेचन करने वाले, मूत्र को भेदन करने वाले, कटु तथा तिक्त(स-युक्त), पित्त तथा अग्निवर्धक और लघु होते हैं और कफ, वात, खुजली, खाँसी, मेदरोग, कृमि तथा ज्वर को दूर करने वाले होते हैं ॥ ४२ ॥

अथ श्वेतपुष्पकण्टकार्या गुणानाह

तद्वत्प्रोक्ता सिता क्षुद्रा विशेषाद् गर्भकारिणी ॥ ४३ ॥

श्वेत फूल वाली भटकटैया के गुण—सफेद फूल वाली भटकटैया भी पूर्वोक्त इन सभी गुणों से युक्त होती है तथापि विशेष करके यह गर्भ धारण कराने वाली होती है ॥ ४३ ॥

१४ कंटकारी

हि०—कटेरी, लघुकटारि, कंटकारी, छोटी कटारि, भटकटैया, रेंगनी, रिगणी, कटाली, कटयाली । वं०—कंटकारी । म०—रिङ्गणी, भुर्रिङ्गणी । गु०—वेठी भोरिंगणी, भोरिंगणी । क०—नेल्ल गुल्लु । ते०—चरल्लन मुलग । मा०—पसरकटारि । पं०—कडियारी, बरुम्ब । ता०—कंडनकतरि । अ०—हदक, हत्तिम, शौकतुलअकरव । फा०—बादगानबरी, कटारि खुर् । ले०—*Solanum xanthocarpum* Schrad & Wendl (सोलैनम खन्थोकार्पम श्रॉड, वेण्ड.) । Fam. Solanaceae (सोलैनेसी) ।

यह प्रायः सब प्रान्तों में और सब प्रकार की मिट्टी में पाई जाती है परन्तु रेतीली भूमि में यह अधिक उत्पन्न होती है। दक्षिण-पूर्व एशिया, मलाया एवं आस्ट्रेलिया के उष्ण प्रदेशों में भी यह पाई जाती है।

इसका परिपसरी लुप-बहुवषायु तथा अत्यन्त काटेदार होता है। काण्ड-टेंडे-मेटे एवं अनेक शाखाओं से युक्त रहते हैं। काटे-सीधे, पीले, चिकने, चमकीले एवं '५-७ इंच तक लम्बे होते हैं। इनमें साथ में छोटे कांटे भी होते हैं। पत्ते-२-४ इंच लम्बे, १-३ इंच चौड़े, लट्वाकार, आयताकार या अण्डाकार, गहरे कटे हुए या पक्षवत् खण्डित होते हैं। पत्रखण्ड पुनः खण्डित या दन्तुर होते हैं। ये तारकाकार रोमों के कारण खुरदुरे होते हैं। फूल-गहरे नीले रंग के आते हैं। फल-गोल, '५-२ इंच व्यास के, चिकने और पीले या कभी कभी सफेद होते हैं तथा हरी धारियों से युक्त होते हैं। बीज-चिकने एवं छोटे होते हैं। इसके मूल का उपयोग किया जाता है। यह हमेशा ताजा उपयोग में लाना चाहिये।

श्वेतकंटकारी का पौधा वर्षायु, कुछ छोटा एवं हल्के रंग का होता है। पुष्प श्वेत रंग के आते हैं। मूल छोटा एवं पतला तथा शाखायुक्त होता है। यह शीतऋतु में होता है तथा वर्षा में गल जाता है। श्वेतकंटकारी का एक पर्याय लक्ष्मणा होने के कारण तथा यह भी 'गर्भ-कारिणी' होने के कारण 'लक्ष्मणा' के स्थान पर इसका उपयोग किया जाता है। लक्ष्मणा का आगे स्वतंत्र वर्णन आया है। यह पौधा उपयुक्त कंटकारी का केवल स्थानभेद से उत्पन्न प्रकार (Variety) है या स्वतंत्र जाति (Species) है इस संबंध में अभी शोध चालू है। इसके स्वतंत्र स्पीसीज सिद्ध होने की अधिक संभावना है।

रासायनिक संगठन—इसमें सोलेनीन सट्टश सोलेकार्पिडिन (Solacarpidin, $C_{26}H_{44}O_3N$) नामक एक क्षाराम बहुत अल्पमात्रा में होता है जो फल में अधिक होता है। पत्तों को अपेक्षा मूल में यह अधिक होता है। इसके पंचांग में पोटैशियम क्लोराइड एवं पोटैशियम नाइट्रेट (Potassium chloride and Potassium nitrate) पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह उत्तम मूत्रल, कफनिःसारक एवं ज्वरहर है। इसके बीज वेदनास्थापक हैं। इसका उपयोग कास, श्वास, प्रतिश्याय, ज्वर, अंगमर्द, पाद्वेपीडा, हृद्रोग, आध्मान, विषंभ, अश्मरी तथा वमन में किया जाता है।

(१) गुडुच एवं इसकी जड़ का काथ ज्वर एवं कास में बन्ध रूप में दिया जाता है। इससे शरीर की पीडा कम होती है, कुछ पसीना होता है एवं मूत्र की मात्रा भी कुछ बढ़ती है।

(२) इससे गला एवं श्वासनलिका की शुष्कता कम होकर कफ ढीला होने लगता है इसलिये गले का शोथ, स्वरयन्त्रशोथ एवं श्वासनलिकाशोथ इनकी प्रथमावस्था में इससे अच्छा लाभ होता है। कफ की प्रथमावस्था में मूल के काथ के साथ मधु एवं सैधव दिया जाता है। द्वितीयावस्था में पत्रस्वरस या मूलकाथ में छोटीपीपल एवं मधु मिलाकर देते हैं जिससे खाँसी की तकलीफ कम होती है। तमक श्वास एवं उद्वेगन युक्त कास में इसके मूल के काथ में सैधव एवं हींग मिलाकर देते हैं। सुश्रुत ने तमक श्वास के लिये इसका मूलचूर्ण १ तोला तथा हींग ३ तोला, मधु के साथ ३ दिन सेवन करने को लिखा है। कास, श्वास तथा स्वरभेद में इससे सिद्ध घृत का उपयोग लिखा है। कास में इसके स्वरस से सिद्ध सुद्गयूष आँवले की खटारि डालकर उपयोग करने को लिखा है।

(३) इसके मूल का स्वरस मद्य मिलाकर पिलाने से वमन बन्द होता है।

(४) इसके मूल के काथ को मूत्रकृच्छ्र, बलितगत अश्मरी एवं जलोदर में देते हैं। मूत्रदोष में इसके स्वरस में मधु मिलाकर पिलाते हैं। अश्मरी में बृहती तथा कंटकारी के मूल का चूर्ण नीठे दही के साथ ७ दिन पीने का विधान है।

(५) इसके बीज के धूपान से कृमिदन्तजन्य शूल कम होता है तथा कभी कभी तस्काळ लाभ होता है। मुखपाक में पंचांग काथ से गण्डूष करते हैं। पीडायुक्त अर्श में इसके बीज की धूनी दी जाती है। वेदनायुक्त अंगों पर इसके पत्तों का लेप किया जाता है।

(६) आमवात में इसके पत्रस्वरस में काली मिर्च मिलाकर पिलाने हैं तथा पत्तों का लेप करते हैं।

(७) गले की सूजन में फलों का स्वरस उपयोगी है।

(८) सोजाक में पंचांग का काथ पिलाने हैं।

मात्रा—पत्रस्वरस ३-३ तोला; मूलकाथ (अष्टमांश) २-४ तोला; मूलचूर्ण १-२ माशा।

श्वेतकण्टकारी—इसकी तानी जड़ दूध में पीसकर मासिक के चौथे दिन पिलाने से गर्भधारण होती है।

अथ गोक्षुरः । तस्य नामानि गुणांश्चाह

गोक्षुरः क्षुरकोऽपि स्यात्त्रिकण्टः स्वादुकण्टकः । गोकण्टको गोक्षुरको वनशृङ्गा इत्यपि ॥४४॥ पल्लुषा श्वदंष्ट्रा च तथा स्याद्विद्युगन्धिका । गोक्षुरः शीतलः स्वादुर्बलकृद्भस्तिशोधनः ॥४५॥ मधुरो दीपनो वृष्यः पुष्टिदश्चाश्मरीहरः । प्रमेहश्वासकासाशः कृच्छ्रहृद्रोगवातनुत् ॥४६॥

गोखरू के नाम तथा गुण—गोक्षुर, क्षुरक, त्रिकण्ट, स्वादुकण्टक, गोकण्टक, गोक्षुरक, वनशृङ्गा, पल्लुषा, श्वदंष्ट्रा तथा इक्षुगन्धिका ये सब संस्कृत नाम गोखरू के हैं। गोखरू—शीतवीर्य, स्वादु, बलकारक, बस्तिशोधक, मरुररमयुक्त, अग्निदीपक, वृष्य तथा पुष्टिकारक होता है। यह पथरी, प्रमेह, आस, खांसी, बवासीर, मूत्रकृच्छ्र, हृद्रोग तथा वात को दूर करने वाला होता है ॥ ४४-४६ ॥

१५ गोखरू (छोटा)

हि०-गोखरू, छोटा गोखरू, हाथीचिकार । अ०-गोक्षुर, गोखुरी । म०-सरारटे, काटे गोखरू । क०-नेगिलुसुल्ल, नेगलु । गु०-न्धाना गोखरू, वेठा गोखरू । ते०-परलेर सुल्ल । ता०-नेरिंजिल, नेरंजी । प०-मखड़ा, मखर । फा०-खारे खसक, खारे पेद्गोशा । अ०-इसक, बजरक खसक । अं०-Small Caltrop (स्मॉल कॅल्ट्रोप्स) । ले०-Tribulus terrestris Linn. (ट्रिब्युलस टेर्रेस्ट्रिस लिन.) । Fam. Zygophyllaceae (झाड़ोफालेइसी) ।

छोटा गोखरू—प्रसर जाति की वनौषधि है। यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है विशेषकर बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, पश्चिमोत्तरप्रदेश, राजपूताना और मद्रास में अधिक उत्पन्न होता है। यह अन्य उष्णप्रदेशों में भी पाया जाता है।

इसका प्रसर—१३ फीट से ४ फीट के धरे में भूमि पर फैला हुआ रहता है। मूल—पतला, चीमड़, करीब ५ इंच लम्बा, गोल एवं हलके भूरे रंग का रहता है। इसमें थोड़ी सी सुगन्ध रहती है एवं इसका स्वाद कुछ मिठास लिये हुए कसैला होता है। शाखाएँ—१-२ फीट लम्बी, रोमश तथा जमीन पर फैली हुई रहती हैं। पत्ते—विपरीत, २-३ इंच लम्बे, प्रायः असम तथा जोड़ी में आते हैं। पत्रक—आयताकार, ४-७ जोड़े, छोटे, ०.८-१.२ से. मि. लम्बे, आधार की तरफ कुछ तिरछे एवं इनका अग्र रोमश रहता है। फूल—छोटे छोटे, पाँच पंखड़ी वाले, पीले रंग के तथा पत्रकोर्णों में आते हैं। फल—छोटे-छोटे गोल किञ्चित् चिपटे होते हैं और उनपर पाँच जोड़े बड़े कांटे लगे रहते हैं। ये पाँच दलवाले होते हैं और सूखने पर प्रायः पाँचों दल त्रिकोणकार-पृथक् पृथक् हो जाते हैं तथा उनके दोनों छोर पर एक-एक बड़े कांटे, आधार पर दो छोटे कांटे एवं अन्य सतह पर सूक्ष्म कांटे रहते हैं। प्रत्येक दल में अनेक बीज पाये जाते हैं जिनके बीच में आड़े परत होते हैं।

इसके मूल एवं फल का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। प्रायः चूर्ण के लिये फल एवं काथ के लिये मूल काम में लेते हैं।

इसी का एक जातिभेद सिंध, पंजाब तथा बलुचिस्तान में होता है। इसे ले०-Tribulus alatus Del. (ट्रिब्युलस एलैटस डेल); अं०-Winged caltrop (विंग्ड कॅल्ट्रोप्स); सिंध-लतक; हि०-गोखुरेकलान; पं०-हसक कहते हैं। इसके फल एक तरफ मोटे तथा दूसरी तरफ संकुचित होते हैं एवं इसे पंख रहते हैं। इनमें दो बीज होते हैं। इसके गुण गोखरू के समान ही होते हैं। इससे पाखाना साफ होता है एवं प्रसूता को इसके फल की पेया पिलाते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में अत्यल्प मात्रा में एक क्षाराम, ३.५% स्थिर तैल, कुछ उड़नशील तैल, राल एवं अधिक मात्रा में नाइट्रेट (Nitrates) ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—गोखरू शीतल, स्नेहन, मूत्रविरेचनीय, शोधहर, वातहर, बल्य, वृष्य एवं वेदनास्थापन है। मूत्र-संस्थान की श्लेष्मकला पर इसका प्रभाव बकु (Buchu) के पत्र एवं उहाअसी (Uva-ursi) के पुष्प सदृश होता है। इसका मूत्रल प्रभाव इसमें के नाइट्रेट एवं उड़नशील तैल के कारण होता है। यह शीतवीर्य होते हुये वृकोत्तेजक है। अधिक मात्रा से इससे शौच साफ होता है।

इसका उपयोग मूत्रकृच्छ्र, सोजाक, अश्मरी, बस्तिरोग, वृक्कविकार, प्रमेह, स्वप्नदोष, नपुंसकता एवं वीर्यक्षीणता में किया जाता है।

इसके फलों का फांट वृक्कविकार, अश्मरी तथा वातरक्त में मूत्रल औषधि के रूप में बहुत उपयोगी है। इसका उपयोग मूत्राघात, कास तथा हृदयविकार में भी किया जाता है। सोजाक तथा बस्तिशोध में इसका काथ देते हैं। इसका वेदना स्थापन गुण अल्प होने के कारण इसके साथ खोरासानी अजवाहन या अफीम मिलाई जाती है।

मूत्रकृच्छ्र में इससे सिद्ध दुग्ध का प्रयोग किया जाता है। मूत्र बहुत अम्ल होने पर तथा मूत्रकृच्छ्र में इसके काथ में यवक्षार मिलाकर देते हैं। बस्तिशोध या वृक्कशोध में जब मूत्र क्षारीय, दुर्गन्ध युक्त एवं गंदला रहता है तब इसके काथ में शिलाजीत देते हैं।

इसके चूर्ण को मधु के साथ खाकर ऊपर से बकरी का दूध सात दिन पीने से अश्मरी में लाभ होता है।

गोखरू तथा तिल इनका समभाग चूर्ण मधु एवं बकरी के दूध के साथ सेवन करने से हस्तमैथुनजन्य षांड्य में लाभ होता है। गर्भाशय शुद्ध होकर वन्ध्यत्व नष्ट होने के लिये गोखरू देते हैं।

मात्रा—३-६ माशा।

१६ गोखरू बड़ा

हि०-बड़ा गोखरू, फरीदवृटी, दक्षिणी गोखरू । अं०-बड गोखरू । म०-मोठे गोखरू । गु०-ऊमा गोखरू, श्रौटा गोखरू, कडवा गोखरू । पं०-गोखरू कलां, बड़ा भखडा (रा) । उडि०-गोखुरा । क०-आनेनेगिगलु । ते०-वेड्डा परलेरु । ता०-पेरुनेरुंजि । मल०-कट्टे-नेरिंजल । सिंहा०-अतिनेरिचि । अ०-इसके कबीर । फा०-खारेखस के कलां, खसके कलां । ले०-Pedaliium murex Linn. (पेडॅलिअम म्युरेक्स लिन.) । Fam. Pedaliaceae (पेडॅलिपसी) ।

यह दक्षिण में समुद्र के किनारे, गुजरात तथा सिलोन में बहुत उत्पन्न होता है।

इसका छुप-वर्षाशु, नरम, मांसल तथा चिकना होता है। शाखाएँ—६-१८ इंच लम्बी तथा उचित प्रसारी होती हैं। पत्ते—न्यूनाधिक विपरीत, १-२ इंच लम्बे, अण्डाकार तथा लहरदार दन्तुर किनारे वाले होते हैं। पुष्प—पीले रंग के, १ इंच लम्बे तथा पत्रकोर्णों में निकले हुए होते हैं।

इसको मसलने से कस्तूरी जैसी सुगन्ध आती है। फल-चौकोनी, करीब ३ इञ्च लम्बा, ३ इञ्च चौड़ा तथा आषार की ओर प्रत्येक कोन पर एक-एक सीधा काँटा होता है। इसके ऊपर का भाग शंकाकार और भीतर से दो कोशवाला होता है। बीज-प्रत्येक कोश में दो दो बीज होते हैं। इसके पत्तों को जल में डालने पर जल एकदम लुआवदार हो जाता है। इसमें न स्वाद होता है न गन्ध होती है तथा कुछ समय बाद इसका लुआव भी निकल जाता है। इसके पत्ते तथा फलों का विकित्ता में व्यवहार होता है।

रासायनिक संगठन—इसके फलों में एक क्षाराभ, वसा, राल तथा राख ५% होती है।

गुण और प्रयोग—बड़ा गोखरू स्नेहन, मूत्रजनन, वल्य तथा बाजीकर है। इसका मूत्रजनन धर्म बहुत उत्तम है तथा स्वरित मालूम पड़ता है।

(१) नये सोजाक में ताजे पंचांग का हिम करीब एक पाव की मात्रा में प्रत्येक समय तात्र बनाकर देना चाहिए। फल का काड़ा देना हो तो उसके साथ मुलेठी एवं नागरमोथा मिलाना चाहिये। इससे मूत्रत्याग के समय जलन नहीं होती। इसके पत्तों का चूर्ण एक तोला दुग्ध एवं शर्करा के साथ सोजाक में तथा तंजन्व्य संधिवात्र में देते हैं।

(२) स्वप्नदोष, कामशक्ति का ह्रास तथा अपने आप पेशाब हो जाना इन अवस्थाओं में इसके फल का फाट देते हैं। २ इञ्च तोला फल चूर्ण को २५ तोला उबलते जल में डालकर १ घंटे पश्चात् छान लें तथा बार-बार थोड़ा-थोड़ा पिलावें। फलचूर्ण को २ माशे की मात्रा में शर्करा, घृत एवं दुग्ध के साथ भी दे सकते हैं। इसका पौष्टिक तथा बाजीकर गुण कभी कभी स्पष्ट प्रतीत होता है।

(३) प्रसूति रोग में फलों का काथ या पत्रस्वरस पिलाते हैं।

(४) यकृत तथा प्लीहा वृद्धि में पंचांग का रस या काथ पिलाते हैं।

मात्रा—पत्रचूर्ण १ तोला; फल २-३ तोला फाट बनाकर; फलचूर्ण २-४ माशा।

अथ लघुपंचमूलम् । तस्य लक्षणं गुणांश्चाह

शालपर्णी पुरिनपर्णी वात्तकी कण्टकारिका । गोक्षुरः पञ्चभिश्चैतैः कनिष्ठं पञ्चमूलकम् ॥
पञ्चमूलं लघु स्वादु बल्यं पित्तानिलापहम् । नास्युष्णं बृंहणं ग्राहि उवरश्वासारमरीप्रणुत् ॥

लघु पञ्चमूल के लक्षण तथा गुण—सरिवन, पिठवन, बड़ी कटेरी, भटकटैया और गोखरू इन पाँचों के मूल एकत्र करने से लघु पञ्चमूल कहलाता है। लघुपञ्चमूल-लघु, स्वादु, बलकारक, वातपित्त-नाशक, बृंहण ग्राही पक्व उवर, श्वास और पथरी को दूर करने वाला होता है तथा यह अत्यन्त उष्णवीर्य नहीं होता है ॥ ४७-४८ ॥

अथ दशमूलम् । तस्य लक्षणं गुणांश्चाह

उभाभ्यां पञ्चमूलाभ्यां दशमूलमुदाहृतम् ।

दशमूलं त्रिदोषघ्नं श्वासकासशिरोरुजः । तन्द्राशोथज्वरानाहपार्श्वपीडाऽरुचीर्हरत् ॥ ४९ ॥

दशमूल के लक्षण तथा गुण—पूर्वोक्त दोनों अर्थात् बृहत तथा लघु पञ्चमूल के योग को दशमूल कहते हैं। दशमूल-त्रिदोषनाशक तथा श्वास, खाँसी, शिर की पीडा, तन्द्रा, शोथ, ज्वर, आनाह, पार्श्वपीडा (पंसलीका दर्द) एवम् अरुचि को दूर करनेवाला होता है ॥ ४९ ॥

अथ जीवन्ती (शाकविशेषः-शर्करावन्मधुरपुष्पा व्रततिर्भवति) ।

तस्या नामानि गुणांश्चाह

जीवन्ती जीवनी जीवा जीवनीया मधुस्रवा । माङ्गल्यनामधेया च शाकश्रेष्ठा पयस्विनी ॥
जीवन्ती शीतला स्वादुः स्निग्धा दोषत्रयापहा । रसायनी बलकरी चक्षुष्या ग्राहिणी लघुः ॥

जीवन्ती (जो कि एक प्रकार की शाक है तथा शर्करा के समान मीठे फूलों वाली लता होती है) के नाम तथा गुण-जीवन्ती, जीवनी, जीवा, जीवनीया, मधुस्रवा, माङ्गल्यनामधेया (मङ्गलवाचक सभी शब्द इनके पर्यायवाचक होते हैं), शाकश्रेष्ठा तथा पयस्विनी ये सब संस्कृत नाम जीवन्ती के हैं। जीवन्ती-शीतवीर्य, स्वादु, स्निग्ध, त्रिदोषनाशक, रसायन, बलकारक, नेत्र को हितकर, ग्राही और लघु होती है ॥ ५०-५१ ॥

नोट—जीवन्ती नामक शाकश्रेष्ठ के विषय मतभेद हैं। कुछ लोग जीवन्ती, स्वर्णजीवन्ती एवं ह्रस्व तथा दीर्घजीवन्ती आदि इसके भेद मानते हैं। अधिकांश विद्वान् लेप्ताडेनिया रेटिक्युलैटा (*Leptadenia reticulata* W. & A.) को जीवन्ती मानते हैं। कुछ लोग डेन्ड्रोबियम मैक्रोइ (*Dendrobium macraei*) को जीवन्ती मानते हैं। इन्हीं दो का यहाँ वर्णन किया गया है। कुछ लोगों ने ड्रेगिया होल्बुविलिस (*Dregia volubilis*) को जीवन्ती लिखा है जिसे कहीं २ 'लाखन' कहा जाता है तथा उसका मूर्वा के स्थान पर कहीं कहीं प्रयोग किया जाता है। पंजाबी में जीवन्ती नाम सिमिसिप्यूजा फिटिडा (*Cimicifuga toetida*) को दिया हुआ है जो जीवन्ती शाक से बिलकुल भिन्न मालूम होती है।

श्रीयुक्त यादवजी ने इसके दो लेटिन नाम लेप्ताडेनिया रेटिक्युलैटा एवं होलोस्टेमा एन्जुलेर लिखे हैं तथा इसके नव्यमत में श्री डा० देसार्ड के होलोस्टेमा डिडिआनम् का वर्णन किया है। होलोस्टेमा डिडिआनम् (हो० एन्जुलेर) को कुछ विद्वानों ने अर्कपुष्पी माना है तथा उसे जीवन्ती का भेद लिखा है। अर्कपुष्पी का आगे स्वतंत्र वर्णन आया हुआ है।

१७ जीवन्ती (१)

हि०-जीवन्ती, डोडी। गु०-दोही, डोही, खरखोडी, राडाखडी। म०-डोडी, राईदोडी, खीरखोडी। ले०-*Leptadenia reticulata* W. & A. (लेप्ताडेनिया रेटिक्युलैटा) । Fam. *Asclepiadaceae* (एस्केलेपिपर्डीसी) ।

यह लता सहारनपुर, शिवालिक के नीचे तथा बरकाला, रानीपूर एवं दक्षिण में भी मिलती है। देहरादून में मोथानवाला के समीप घास के मैदानों में भी होती है। इसकी मधुर कलियों का रुचिकर शाक बनता है अतः शाकश्रेष्ठ जीवन्ती इसे मानना चाहिये

इसकी लता-क्षुपजातीय तथा चकारोही होती है। इसके पुराने काण्ड कार्क युक्त होते हैं और नवीन भाग श्वेताभ स्युड रोमश होते हैं। पत्ते-२-३ इञ्च लम्बे, १-१।१ इञ्च चौड़े, लट्वाकार-आयताकार या अंडाकार, नोकीले, सरल धार, चर्म सट्टश और अधःपृष्ठ पर नीलाभ श्वेत रज से ढके होते हैं। इनका आषार प्रायः गोल या नोकीला होता है। पुष्प-कुछ मटमैले हरिताभ पीत रंग के होते हैं। फलियाँ-एकाकी, २-३ इञ्च लंबी, १-१।१ इञ्च मोटी, सीधी, सरस परन्तु कठोर, चिकनी और उनका अग्रभाग मोटा परन्तु चौंचदार (टेढ़ा) होता है।

गुण और प्रयोग—जीवन्ती जीवनीय, शीतल, मधुर, लघु, त्रिदोषनाशक, चक्षुष्य, स्वयं, ग्राही, बल्य एवं वृष्य है।

इसका उपयोग रक्तपित्त, क्षय, दाह, ज्वर, अतिसार, विषदोष, नक्तान्ध्य एवं व्रण में किया जाता है।

- (१) ज्वरजन्य दाह में इसके मूल के काथ में घृत मिलाकर पीने से लाभ होता है।
 - (२) इसका साग घृत के साथ पकाकर खाने से रतीषी में लाभ होता है।
 - (३) अतीसार में इसका साग दही, अनार तथा स्नेह के साथ उपयोगी होता है।
- मात्रा—३-६ माशा।

१८ जीवन्ती (२)

सं-स्वर्ण जीवन्ती (?), हि०-जिबसाग, बं-जिबै, जीवन्ती। गु०-जिवन्ती। ले०-*Dendrobium macroei Lindl.* (डेंड्रोबिअम् मैक्रोइ लिंड)। Fam. Orchidaceae (ऑर्किडेंसी)। यह हिमालय पहाड़, खासिया पहाड़, सिक्किम, नीलगिरि के पहाड़ एवं दक्षिण, सोलोन, बर्मा तथा मलाया आदि में होती है।

इसके खांदे जामुन के वृक्षों पर पाये जाते हैं। जड़ (भौमिक काण्ड)-प्रसरणशील तथा वृष्य युक्त होती है जिससे अनेक लटकते हुवे, चमकीले तथा २-३ फीट लंबे काण्ड निकले रहते हैं। काण्ड पर विभिन्न दूरी पर मूलकाकार, कुछ दबे हुवे चमकीले तथा २-२।। इत्र लंबे कूटकंद (Pseudobulbs) रहते हैं। पत्र-कूटकंद के अग्रभाग से, एकाकी, ४-८ इत्र लंबा, करीब १ इत्र चौड़ा, रेखाकार-आयताकार, कुण्ठिताग्र एवं अनेक समानान्तर पतली शिराओं से युक्त होता है। पुष्प-पत्र के आधार से निकले हुवे, १-३, करीब १ इत्र बड़े तथा श्वेत वर्ण के रहते हैं। इनके ओष्ठ एवं चंचु (Spur) धीतवर्ण के रहते हैं। पुष्प कुछ ही घंटे विकसित रहते हैं।

इसके पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह लघु, मधुर, शीतल, रसायन, स्नेहन, बल्य एवं वृष्य है। इसका उपयोग श्वास, कास, गले के विकार, क्षय, ज्वर, दाह, नेत्रविकार एवं रक्तविकार में किया जाता है। इसके पंचांग का काथ अम्य सुगंधि पदार्थों के साथ त्रिदोष में देते हैं। घातुपात के कारण उत्पन्न दौर्बल्य में काथ पिलाते हैं।

मात्रा—३ से ६ माशा।

अथ मुद्रपर्णी । तस्या नामानि गुणांश्चाह

मुद्रपर्णी काकपर्णी सूर्यपर्ण्यल्पिका सहा ॥ ५२ ॥

काकमुद्रा च सा प्रोक्ता तथा मार्जारगन्धिका ।

मुद्रपर्णी हिमा रूचा तित्ता स्वादुश्च शुक्रला ॥ ५३ ॥

चक्षुष्या क्षतशोथघ्नी ग्राहिणी ज्वरदाहनुत् ।

दोषत्रयहरी लब्धी ग्रहण्यशोऽतिसारजित् ॥ ५४ ॥

मुगवन के नाम तथा गुण—मुद्रपर्णी, काकपर्णी, सूर्यपर्णी, अल्पिका, सहा, काकमुद्रा और मार्जारगन्धिका ये सब संस्कृत नाम मुगवन के हैं। मुगवन-शीतवीर्य, रूक्ष, वित्तरसयुक्त, स्वादु, शुक्रजनक, नेत्र को हितकर, क्षत तथा शोथ का नाशक, ग्राही, ज्वर तथा दाह को दूर करने वाली, त्रिदोषनाशक तथा लघु होती है एवम् ग्रहणी, बवासीर तथा अतिसार को दूर करने वाली होती है ॥ ५२-५४ ॥

१. सूर्यपर्ण्यल्पिका इति पाठा० ।

१९ मुद्रपर्णी

हि०-मुगवन, मुंगानी, बनमूंग, जंगली मूंग, रखाळ कलमी। बं०-मुंगानी। म०-रानमुग। गु०-जंगली मग, अडवाळ मग। क०-कोहसर, आवरेगिड। ते०-कार पेसारा, पिछ पेसर चेट्टु, कलबन्द चेट्टु। पं०-मुगवन। ता०-नरिप्परु। ले०-*Phaseolus trilobus Ait.* (फेसिओलस् ट्राइलोवस् एट.)। Fam. Leguminosae ((लेगुमिनोसी)।

यह मूंग के समान ही लता जाति की वनौषधि प्रायः सब प्रान्तों में उत्पन्न होती है। इसके काण्ड प्रसरी, १-२ फीट लम्बे, रोमश या चिकने होते हैं। पत्रक-कद में प्रायः बहुत परिवर्तनशील होते हैं और प्रायः घृत से छोटे ही होते हैं। ये प्रायः सर्वदा खण्डित, खण्ड तीन और मोल होते हैं। उपपत्र बहुत बड़े और पीठ से जुड़े हुए (प्रायः ३ तक) होते हैं। उपपत्रक छोटे परन्तु पर्णवत् होते हैं। मंजरी के शीर्ष पर पुष्पगुच्छ और बड़ा पुष्पदंड होता है। फली—पतली, लगभग २ इंच लम्बी एवं चिकनी होती है। बीज-६-१२ और श्वेतांग होते हैं।

इसके बीजों को कभी-कभी गरीब लोग खाने के लिये एकत्र करते हैं। पत्रकों के आकार के अनुसार इसे सूर्यपर्णी कह सकते हैं।

गुण और प्रयोग—मुद्रपर्णी शीतल, जीवनीय, शुक्रजनक, बलप्रद, चक्षुष्य एवं शामक है।

इसका प्रयोग वातरक्त, क्षय, ज्वर एवं दाह में किया जाता है। विहार में ज्वर के लिये इसके पत्रांग का प्रयोग किया जाता है। जीर्ण ज्वर में पुष्टि एवं निद्रा लाने के लिये इसके पत्तों का काथ पिलाया जाता है। चूहे के विष में सिन्धुवार, मुद्रपर्णी एवं माषपर्णी मधु के साथ खाने से लाभ होता है।

मात्रा—२-४ माशा।

अथ माषपर्णी । तस्या नामानि गुणांश्चाह

माषपर्णी सूर्यपर्णी काम्बोजी ह्यपुच्छिका ।

पाण्डुलोमशपर्णी च कृष्णवृन्ता महासहा ॥ ५५ ॥

माषपर्णी हिमा तित्ता रूचा शुक्रबलासकृत् ।

मधुरा ग्राहिणी शोथवातपित्तज्वरान्नजित् ॥ ५६ ॥

बनउर्दी के नाम तथा गुण—माषपर्णी, सूर्यपर्णी, काम्बोजी, ह्यपुच्छिका, पाण्डुलोमशपर्णी, कृष्णवृन्ता और महासहा ये सब संस्कृत नाम बनउर्दी के हैं। बनउर्दी—शीतवीर्य, तिक्त तथा मधुररसयुक्त, रूक्ष, ग्राही, शुक्रजनक तथा कफकारक होती है। एवम् यह शोथ, वात, पित्त, ज्वर और रक्तविकार को दूर करने वाली होती है ॥ ५५-५६ ॥

२० माषपर्णी

हि०-मषवन, माषोनी, बन उड़दी, जंगली उड़दी, बनउर्दी, बनउड़दी। बं०-माषानी। म०-रानउड़दी। गु०-जंगली अड़दी। क०-काडडयु, काडुलंद। ते०-रानो डिंडु, कार मितुर। ता०-कट्टु अलदू। ले०-*Teramnus labialis Spreng* (टेरमन्स् लेबिपलिस् स्प्रेग)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह सब प्रान्तों के जंगल झाड़ियों में कहीं न कहीं उत्पन्न होती है। यह लता जाति की वनौषधि झाड़ियों पर लिपटती हुई (चकारोही) बढ़ती है और वर्षा ऋतु में अधिक पाई जाती है। पत्ते-त्रिपत्रक और पत्रक भिन्न-भिन्न कद के होते हैं। पत्रक-कमी ५-१३ इत्र और कमी

१-३ इन्द्र लम्बे होते हैं। ये अण्डाकार या लट्वाकार (अग्रय पत्रक कभी-कभी अभिलट्वाकार), नीचे के तल पर तलशायी रोमों से युक्त होते हैं। सद्यन्त पुष्पों की मञ्जरी बहुत पतली १½-५ इन्द्र लम्बी और पुष्प-गुलाबी, नीलारुण या सफेद होते हैं। फली-पतली लम्बी सीधी या कुछ-कुछ टेढ़ी होती है। बीज-ताजी अवस्था में लाल तथा सूखने पर काले तथा संख्या में लगभग १० होते हैं।

गुण और प्रयोग—माषपर्णी शीतल, बल्य, वृष्य, पुष्टिकारक, शुक्रजनन एवं जीवनीय है।

इसका उपयोग ज्वर, दाह, रक्तपित्त, वातविकार, अंगघात एवं आमवात में किया जाता है। चरक ने वाजीकरण के लिये माषपर्णी खिलाई हुई समान वर्ण वस्त्रवाली प्रथम-प्रसवा गौ का दुग्ध, मधु, शर्करा एवं घृत के साथ सेवन करने का विधान किया है। इससे सिद्ध तैल का पित्तु-धारण वातिक प्रदर में लाभदायक माना जाता है।

मात्रा—२-४ माशा।

अथ जीवनीयगणः । तस्य लक्षणं गुणांश्चाह

अष्टवर्गः सयष्टीको जीवन्ती मुहूर्णिका ।

माषपर्णी गणोऽयं तु जीवनीय इति स्मृतः ॥ ५७ ॥

जीवनो मधुरश्चापि नाम्ना स परिकीर्तितः ।

जीवनीयगणः प्रोक्तः शुक्रकृद् बृंहणो हिमः ॥ ५८ ॥

गुहर्गर्भप्रदः स्तन्यकफकृत्पित्तरक्तहृत् । तुष्णां शोषं उवरं दाहं रक्तपित्तं व्यपोहति ॥ ५९ ॥

जीवनीय गण के लक्षण तथा गुण—जीवक, ऋषभकादि पूर्वोक्त अष्टवर्ग की औषधियों, मुलेठी, जीवन्ती (डोंडी), मुगवन और बनउदी इन सब औषधियों को जीवनीयगण कहते हैं। जीवनीय गण का ही नामान्तर जीवन (जीवन गण या मधुर (मधुर गण) भी ऋषियों ने कहा है। जीवनीय गण—शुक्रजनक, बृंहण, शीतवीर्य, गुरु, गर्भप्रद, स्तन्य (दुग्धवर्धक) तथा कफ-कारक एवं पित्त तथा रक्तदोष को दूर करने वाला तथा तृषा, शोष, ज्वर, दाह और रक्तपित्त इन सबों को नष्ट करने वाला होता है ॥ ५७-५९ ॥

अथ शुक्ररक्तैरण्डौ । तयोर्नामानि गुणांश्चाह

शुक्र एरण्ड आमण्डश्चिरो गन्धर्वहस्तकः । पञ्चाङ्गुलो वर्धमानो दीर्घदण्डो व्यडम्बकः ॥ ६० ॥
वातारिस्तर्णश्चापि रुक्कश्च निगद्यते । रक्तोऽपरो रुक्कः स्यादुरुक्कौ रुक्वुस्तथा ॥ ६१ ॥
व्याघ्रपुच्छश्च वातारिश्चञ्चुरुत्तानपत्रकः । एरण्डयुग्मं मधुरमुष्णं गुरु विनाशयेत् ॥ ६२ ॥
शूलशोथकटीवस्तिशिरःपीडोदरज्वरान् । ब्रध्नश्वासकफानाहकासकुष्ठामारुतान् ॥ ६३ ॥

सफेद एरण्ड तथा लाल एरण्ड के नाम एवम् गुण—शुक्रैरण्ड, आमण्ड, चिन, गन्धर्वहस्तक, पञ्चाङ्गुल, वर्धमान, दीर्घदण्ड, व्यडम्बक, वातारि, तरुण और रुक्क ये सब संस्कृत नाम सफेद एरण्ड के हैं। रक्तैरण्ड, रुक्क, उरुक्क, रुक्वु, व्याघ्रपुच्छ, वातारि, चञ्चु और उत्तानपत्रक ये सब लाल एरण्ड के संस्कृत नाम हैं। दोनों एरण्ड-मधुररसयुक्त, उष्णवीर्य तथा गुरु होते हैं एवम् ये दोनों-शूल, शोथ एवं कटि, बस्ति तथा शिरकी पीडा, उदररोग, ज्वर, ब्रध्ननामक-रोग, श्वास, कफ, आनाह, खाँसी, कुष्ठ और आमवात इन सबों को दूर करते हैं ॥ ६०-६३ ॥

अथैरण्डपत्राग्रपत्रफलमञ्जगुणानाह

एरण्डपत्रं वातघ्नं कफक्रिमिविनाशनम् ।

मूत्रकृच्छ्रहरं चापि पित्तरक्तप्रकोपणम् । वातार्यग्रदलं गुल्मवस्तिशूलहरं परम् ॥ ६४ ॥

कफवातकुम्भीहन्ति वृद्धि सप्तविधामपि । एरण्डफलमत्युष्णं गुल्मशूलानिलापहम् ॥ ६५ ॥

यकृत्प्लीहोदराशौचं कटुकं दीपनं परम् ।

तद्वन्मजा च विडभेदी वातरलेभोदरापहः ॥ ६६ ॥

एरण्ड के पत्ते, फुलगी, फल तथा मींगो के गुण—एरण्ड के पत्ते-वातनाशक तथा कफ, कृमि और मूत्रकृच्छ्र को दूर करनेवाले एवम् पित्त तथा रक्त को कुपित करनेवाले होते हैं। कीमल पत्ते (अग्रभाग के पत्ते) गुल्म और बस्ति-शूल को अत्यन्त दूर करनेवाले तथा कफ, वात, कृमि और सात प्रकार के वृद्धि रोग (अण्डवृद्धि) को भी दूर करने वाले होते हैं। एरण्ड के फल-अत्यन्त उष्णवीर्य, गुल्म, शूल, वायु, यकृत, प्लीहा, उदररोग तथा ववासीर को दूर करनेवाले एवम् कटुरस-युक्त तथा अत्यन्त अग्निदीपक होते हैं। फल की मींगी भी गुणों में इसके फलों के समान होती हुई भी मल को भेदन करने वाली एवं वात, कफ तथा उदर-सम्बन्धी रोगों को दूर करने वाली होती है ॥ ६४-६६ ॥

नोट—भावप्रकाशकार ने श्वेत एवं रक्त भेद से एरण्ड के दो भेद लिखे हैं, यद्यपि दोनों के गुण समान ही होते हैं। सामान्यतः इसके दो भेद पाये जाते हैं। एक भेद बड़वर्षायु एवं बड़े फल तथा बड़े और लाल बीजों वाला होता है। दूसरा भेद एकवर्षायु एवं छोटे, भूरे और चित्तीदार बीजों वाला होता है। यह प्रतिवर्ष बोया जाता है। प्रथम में ४०% तैल होता है लेकिन वह अधिकतर जलाने एवं स्निग्धीकरण के काम आता है। इसके पत्तों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। दूसरे में तैल ३७% होता है जो चिकित्सा में अधिकतर काम आता है। इसके मूल का भी उपयोग चिकित्सा में किया जाता है।

एक अन्य प्रकार का एरण्ड भी मिलता है जिसे व्याघ्रैरण्ड कहते हैं। इसके गुण एरण्ड से काफी भिन्न हैं। इसकी एक दूसरी जाति होती है जिसे लाल व्याघ्रैरण्ड कहते हैं। एरण्ड के पश्चात् व्याघ्रैरण्ड का वर्णन किया गया है।

२१ एरण्ड

हि०—अरंड, एरण्ड, एरंडी, रेंडी। ब०—भेरेंडा। म०—एरण्ड, एरंडी। गु०—एरण्डो, एरण्डियो, दिवेली। ते०—आमुडामु, एरण्डमु। ता०—आमणकम्। मल०—चिट्टामणकम्, आबणका। क०—इरुडु। फा०—वेदजीर, तुस्मे वेदजीर। अ०—खिरवा, वज्रुल, खिबंअ। अं०—Castor-Oil plant (कॉस्टर ऑइल प्लांट)। ले०—*Ricinus communis* Linn. (रिसिनस् कॉम्मुनिस् लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

प्रायः सब प्रान्तों में एरण्ड की खेती की जाती है। यह अपने आप ही मैदानों, सड़कों के किनारे, परती जमीन एवं पहाड़ियों की खाली भूमि में उत्पन्न हुआ पाया जाता है।

इसका छुप-एक वर्षायु, ऊँचा, चिकला तथा क्षोदलिप्त रहता है। कभी-कभी यह झाड़ीदार या छोटे वृक्षसदृश भी हो जाता है। पत्ते-एकांतर, चौड़े, खंडित (त्रिपादानुत्तर-पाणिवत्), खण्ड ७ या अधिक एवं पत्रतट आरावत दन्तुर होता है। पुष्प-द्विलिंगी तथा सद्यन्त-काण्डज पुष्पव्यूहों में आते हैं जिसमें पुष्प पुष्पव्यूह के ऊपर के भाग में रहते हैं तथा स्त्रीपुष्प नीचे के भाग में रहते हैं। फल-गोल-गोल सघन गुम्बजदार लगते हैं, तथा बन पर मुलायम मुलायम

काँटे से होते हैं। फल पकने पर भूप की गरमी से फट जाते हैं और बीज भूमि में गिर पड़ते हैं। उसी समय गुच्छों को तोड़कर संग्रह करते हैं। प्रत्येक फल में तीन-तीन बीज होते हैं। बीज-गोल आयताकार तथा कुछ चिपटे, ४-१२ मि. मि. लंबे, एक तरफ से चिपटे किन्तु दूसरी तरफ कुछ गोल, लंबाई की अपेक्षा ३ चौड़े एवं ३ मोटे होते हैं। बीज का बाह्य त्वक् पतला, भिदुर, चिकना, चमकीला, भूरे रंग का तथा चितकवरा रहता है। इसका अन्तस्त्वक् पतला और मुलायम होता है। बीजावरण में ऊपर द्वारक के समीप एक सफेद बाह्य वृद्धि होती है जिससे कुछ २ ढँका हुआ वृत्तयु (Hilum) होता है। बीजावरण को हटा देने पर स्थूल तथा पीताम्बु रवेत भ्रूणपोष (Endosperm) दिखाई देता है जिसके अन्दर तैलीय खाद्य पदार्थ संचित रहता है। भ्रूणपोष के मध्य में गर्भ होता है जिसमें दो पतले पत्र-सदृश बीजपत्र और उनके बीच छोटा भ्रूणाक्ष होता है। बीजों में नाममात्र की गंध एवं किंचित तीता स्वाद होता है।

एरण्ड का अपने यहां बहुत प्राचीन काल से प्रयोग होता आ रहा है। इसकी इतनी अधिक खेती होती है जिससे इसके तेल का एवं बीजों का बहुत अधिक मात्रा में निर्यात होता है। तैल विशेषकर साहज बनाने, मशीनों के स्निग्धीकरण (Lubrication) एवं चर्म-व्यवसाय आदि उद्योगों में उपयोग में लाया जाता है। चिकित्सा की दृष्टि से उत्तम प्रकार का तेल अपने यहाँ कम निकाला जाता है यद्यपि उसमें विशेष बाधाएँ नहीं हैं। उत्तम तेल फ्रांस तथा इटली से आता है। इसमें पहले बीजों को खूब अच्छी तरह साफ कर, ऊपर का छिलका हटा, बिना उष्णता पहुँचाये केवल दबाव के द्वारा तेल निकालते हैं। प्रथम दबाव में करीब आधा तेल निकालते हैं। इसे औषधि कार्य में व्यवहृत किया जाता है। फिर दुबारा दबाव देने पर करीब १६% तेल निकलता है वह अन्य व्यवसायों में काम में लाया जाता है। शीतविधि द्वारा निकाले तेल का स्वाद एवं गन्ध कम अप्रिय होता है। उष्ण विधि में बीजों को जल के साथ उबालते हैं। गरमी के कारण तेल जल पर नितर आता है। फिर इस तेल को अलग कर लेते हैं। दूसरी विधि में तेल को दबाव से ही निकालते हैं किन्तु बाहर से मंद आँच भी देनी पड़ती है। उष्णता से पतला हो जाने के कारण तेल अधिक मात्रा में तथा आसानी से निकलता है। इस तेल को धूप में रखकर शुभ्र बनाते हैं तथा बाद में जल के साथ उबालते हैं जिससे इसमें के अन्य पदार्थ निकलकर तेल स्वच्छ हो जाता है।

रासायनिक संगठन—एंड के बीजों में करीब ५०% तेल रहता है। तेल निकालने के पश्चात् बची हुई खली में रिसिनाइन (Ricinine) नामक रवेदार पदार्थ, रिसिन (Ricin) नामक विषैला पदार्थ, तीव्र कार्य करने वाला लाइपेस (Lipase) नामक किण्व एवं अन्य किण्व पाये जाते हैं।

इसके तेल में अनेक ग्लिसराइड्स (Glycerides) रहते हैं जिसमें से प्रधान स्नेहीय अम्ल रिसिनोइक एसिड (Ricinoleic acid, $C_{18}H_{34}O_3$) है जो इसका विरेचक द्रव्य माना जाता है। स्नेहीय अम्लों के ओलिक (Oleic), लिनोइक (Linoleic) एवं अल्प मात्रा में स्टीयरिक (Stearic) तथा हाइड्रोक्सि स्टीयरिक (Hydroxy stearic) अम्ल पाये जाते हैं।

इसके बीजों में रिसिन नामक जो विषैला तत्व है वह इतना अधिक तीव्र है कि २, ३ बीज से मृत्यु तक हो सकती है। मुख की अपेक्षा सूचीवेध द्वारा प्रवेश करने से इसके विषैले परिणाम अधिक दिखलाई देते हैं। इससे आंत्र में रक्तस्रावयुक्त शोथ हो जाता है। इसमें कोई विरेचक गुण नहीं रहता। रिसिन एरण्ड तेल में नहीं पाया जाता। औषधि कार्य में बीजों का प्रयोग करते समय बीजों को दो फाक करके भीतर की जीमी जिसमें यह विष अधिक रहता है निकाल देना

चाहिये। कुछ समय तक दुग्ध में भिगोने एवं एक दो बार उबालने से भी इस विष का पर्याप्त शोषण होता है।

गुण और प्रयोग—एरण्ड तैल सौम्य, संस्त्रन, स्तन्यजनन, दाहशामक एवं वातहर है। इसका मूल वृष्य एवं वातहर है। एरण्ड भेदनीय, स्वेदीपग, अगमर्दप्रशमन, अधोभागहर एवं वातसंशमन है।

एरण्ड तैल बहुत अच्छा विरेचक द्रव्य है। इसका प्रभाव क्षुद्रांत्र (ग्रहणी) पर होता है। यह आंत्र की ग्रन्थियों एवं पुरस्सरण क्रिया को उत्तेजित करता है जिससे २-६ घंटों में साधारण विरेचन होता है। इससे साधारण पतले २-४ पाखाने होते हैं। आखिरी पाखाने के साथ तैल निकल जाता है तथा कभी कभी मरोड़ होती है। इसका कुछ अंश प्रचुषण के पश्चात् स्तन द्वारा उत्सर्गित होने के कारण स्तनपान करने वाले बच्चों को भी विरेचन हो जाता है। कुछ लोगों को इसकी आदत पड़ जाती है तथा कुछ लोगों में इससे विरेचन के पश्चात् विबंध हो जाता है। यह सम्भवतः वृद्धांत्र की शिथिलता के कारण होता है जो २, ३ दिन रहती है।

बाल, वृद्ध, स्त्री, गर्भिणी एवं प्रसूता के लिये तथा अर्शविकार, गुदविदार, उदरगत शय्यकर्म, ओणविकार, उदरावरणशोथ, जीर्ण विबंध तथा उरज्जन्य विबंध आदि अवस्थाओं के लिये यह उत्तम तथा हानिरहित सौम्य विरेचक है। अजीर्णजन्य अतिसार विशेषकर बच्चों में होनेवाले अतिसार में इसमें लाभ होता है। तीव्र प्रवाहिका के प्रारंभ में अर्शविकार के साथ इसका प्रयोग लाभदायक होता है तथा जीर्ण विकार में भी इसका उपयोग किया जाता है। एरण्ड तैल को सुबह खाली पेट आदी के रस के साथ दिया जाता है। सोंठ के फाँट के साथ या उष्ण-चाय, कॉफी आदि के साथ भी इसको दे सकते हैं। शीतऋतु में इसको कुछ उष्ण करके देना चाहिये। इसके स्वाद एवं गंध को दूर करने के लिये इसे कैप्सूल में बंदकर या गोंद के साथ एमरशन् बनाकर ले सकते हैं। बच्चों में इसकी प्रभावोत्पादक न्यूनतम एवं अधिकतम मात्रा ३० बूँद से लेकर १ पाव तक की है लेकिन प्रायः २ तोला की मात्रा मृदुरेचन के लिए पर्याप्त होती है। नवजात शिशु के लिये छोटे चाय के चम्मच-बराबर मात्रा कोई बड़ी मात्रा नहीं है। विबंध में एरण्ड तैल की बस्ति भी दी जाती है।

कटिशल, गुग्गुली, पार्श्वशूल, हृदयशूल, आमवात एवं संशिशोथ में इसके मूल का काथ सोंठ के साथ पिलाने से लाभ होता है। इन अवस्थाओं में इसके तैल को शिलाजतु के साथ पिळाने हैं तथा इसकी मालिश भी करते हैं। नूतन तथा जीर्ण आमवात में नित्य सुबह एरण्ड तैल का प्रयोग लाभदायक है।

स्तनों पर इसके तैल को मर्दन कर ऊपर से एरण्ड पत्र बाँधने से उसमें की गोंटें विलीन होकर स्तन्य-वृद्धि होती है। स्तन-चूचुक-विदार में इसके तैल को लगाने से लाभ होता है।

आँखों में कोई बीज चली जावे तो स्वच्छ एरण्ड तैल डालने से वह निकल जाती है तथा आँखों की खुरखुराहट दूर होती है।

अर्श में एरण्ड तैल तथा घृतकुमारी का स्वरस मिलाकर लगाने से जलन कम होती है।

शिरःशूल में रेंडी के तैल की मालिश से लाभ होता है। दाह के शमन के लिये एरण्डमज्जा को बकरी के दूध में पीसफार पादतल में मलते हैं। एरण्ड तैल के मर्दन से भी दाह का शमन होता है।

मात्रा—तेल १-२ तोला; मूलचूर्ण ३-६ तोला।

२२ व्याघ्रैरण्ड

हि०—व्याघ्रैरण्ड, जंगली एरंड । बं०—बागा भेरेंदा, बाघभेरंड । म०—मोंगली एरंड । गोवा-गलमर्क । कोंक-काडपरडि । ता०—कट्टमनक्कु । ते०—अडविआमुदमु । क०—कडहरु । अ०, फा०—डंडेनहरी । ले०—*Jatropha curcas* Linn. (जॅट्रोफा कर्कस लिन.) । Fam. Euphorbiaceae (युफोबिपसी) ।

यह दक्षिण अमेरिका का आदिवासी है किन्तु प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है । दक्षिण में इसे लोग घरों में लगाते हैं ।

इसका वृक्ष-छोटा एवं करीब १०-२० फीट ऊँचा होता है । इसकी छाल धूसरवर्ण की एवं काष्ठ मुलायम होता है । पत्ते-चिकने, बड़े, व्यास में ४-६ इञ्च एवं ३-५ खंडों में विभक्त होते हैं । पुष्प-पीताभवर्ण के होते हैं । फल-हरे रंग के, १ इञ्च लम्बे एवं सूखने पर भी बहुत दिन तक पेड़ में लगे रहते हैं । इसके बीजों में तैल होता है । इसके पत्तों को तोड़ने से सफेद रंग का बहुत दूध निकलता है । इसके दूध एवं मूल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है ।

इसी की दूसरी जाति जॅट्रोफा गॉसिपिफोलिया लिन. (*J. gossipifolia* Linn.), लाल व्याघ्रैरण्ड सड़कों के किनारे तथा ऊसर भूमि में और अधिक मात्रा में उगी हुई पाई जाती है । इसके पौधे ३-६ फीट ऊँचे, पत्ते ३-५ खंडों में विभक्त एवं पुष्प लाल होते हैं । पत्रतट, पर्णवृन्त और उपपत्रों के ऊपर इलेक्ट्रोपदक ग्रंथियाँ रोमों के रूप में रहती हैं जिससे यह पौधा स्पर्श में चिपचिपा होता है । इसके मूल में कपूर जैसी गंध आती है । इसकी दातुन अच्छी समझी जाती है ।

रासायनिक संगठन—व्याघ्रैरण्ड के बीजों में हलके पीले रंग का तैल ३०%, शर्करा, स्टार्च तथा कार्बिन (Carcin) नामक रिसिन जैसा विषैला पदार्थ पाया जाता है ।

गुण और प्रयोग—व्याघ्रैरण्ड का दुग्ध रक्तसांघ्राहिक तथा व्रणरोपक है । इसकी जड़ वातानुलोमक, पाचन एवं ग्राही है । इसका तैल जमालगोटे जैसा तीव्र विरेचक होता है तथा इसकी क्रिया अनियन्त्रित होने के कारण तैल का आन्तरिक व्यवहार नहीं किया जाता ।

इसके दुग्ध को क्षतपर लगाने से कोलोडिअन की तरह एक पतला स्तर व्रण पर बन जाता है जिससे रक्तस्राव रुकता है, उपसर्ग से व्रण की रक्षा होती है तथा व्रण का संकोच होने से व्रण जल्दी अच्छा होता है । इसे पामा, दाद, तथा छाजन पर लगाते हैं । इसके पत्तों के काथ का भी इसी तरह उपयोग होता है एवं इससे कुल्ला करने से मसूड़े से खून जाना बन्द होकर दाँत मजबूत होते हैं । इसकी दंतुअन से भी लाभ होता है । इसके तैल को खुजली, परिसर्प, छाजन तथा अन्य चर्मरोगों में एवं आमवात में लगाते हैं तथा व्रणशोधन के लिये भी इसका उपयोग करते हैं । दुग्धवृद्धि के लिये इसके पत्तों को जरा सा गरमकर स्तन पर बाँधते हैं या इसके काथ से सेंककर फिर उन्हीं पत्तों को बाँधते हैं ।

कोंकण की तरफ अजीर्ण, अतिसार तथा उदरशूल के लिये इसकी एक अंगुल लम्बी ताजी जड़, ७ दाना काली मिर्च एवं थोड़ा हॉग इन सब को पीसकर उसका रस मट्ठे के साथ पिलाते हैं ।

अथ शुक्लरक्तार्कौ [सफेद आक-लाल आक] । तयोर्नामानि गुणौश्वाह

श्वेतार्कौ गणरूपः स्यान्मन्दारो वसुकोऽपि च । श्वेतपुष्पः सदापुष्पः स चालर्कः प्रतापसः ॥

रक्तोऽपरोऽर्कनामा स्याद्वर्कपर्णो विकीरणः ।

रक्तपुष्पः शुक्लफलस्तथाऽऽस्फोटः प्रकीर्तितः ॥ ६८ ॥

अर्कद्वयं सरं वातकुष्ठकण्डूविषम्रगान् ।

निहन्ति प्लीहगुल्मार्शःश्लेष्मोदरशकृत्कृमीन् ॥ ६९ ॥

सफेद आक तथा लाल आक के नाम और गुण—श्वेतार्क, गणरूप, मन्दार, वसुक, श्वेतपुष्प, सदापुष्प, अलर्क और प्रतापस ये सब संस्कृत नाम सफेद आक के हैं । लाल आक के संस्कृत नाम—रक्तार्क, अर्कनामा (सूर्य के वाचक सभी शब्द इसके पर्यायवाचक हैं), अर्कपर्ण, विकीरण, रक्तपुष्प, शुक्लफल तथा आस्फोट हैं । दोनों प्रकार के आक-दस्तावर तथा वात, कुष्ठ, खुजली, विष, व्रण, प्लीहा, गुल्म, ववासीर, कफ, उदररोग एवं मल के कृमि इन सबों को नष्ट करते हैं ॥ ६७-६९ ॥

अथ शुक्लरक्तार्कयोः पुष्पगुणानाह

अलर्ककुसुमं वृष्यं लघु दीपनपाचनम् । अरोचकप्रसेकार्शःकासश्वासनिवारणम् ॥ ७० ॥

रक्तार्कपुष्पं मधुरं सतिक्तं कुष्ठकृमिघ्नं कफनाशनम् ।

अर्शो विषं हन्ति च रक्तपित्तं संग्राहि गुल्मे श्वथौ हितं तत् ॥ ७१ ॥

सफेद आक तथा लाल आक के फूल के गुण—सफेद आक का फूल—वृष्य, लघु, अग्नि-दीपक तथा पाचक होता है एवम् यह अरुचि, प्रसेक (मुख से लार गिरना), ववासीर, खॉसी तथा श्वास को दूर करता है । लाल आक का फूल—मधुर तथा थोड़ा तिक्त रसयुक्त, संग्राही, गुल्म तथा शोथ में हितकर होता है एवम् यह कुष्ठ, कृमि, कफ, ववासीर, विष तथा रक्तपित्त को दूर करने वाला होता है ॥ ७०-७१ ॥

अथार्कदुग्धगुणानाह

श्वीरमर्कस्य तिक्तोष्णं स्निग्धं सलवणं लघु । कुष्ठगुल्मोदरहरं श्रेष्ठमेतद्विरेचनम् ॥ ७२ ॥

'आक' के दूध के गुण—यह तिक्त तथा कुष्ठ लवणरस से युक्त, उष्णवीर्य, स्निग्ध और लघु होता है एवम् यह कुष्ठ, गुल्म तथा उदर रोग को दूर करता है और इसके प्रयोग से उत्तम विरेचन होता है ॥ ७२ ॥

नोट—चरक ने अर्क का एक ही भेद लिखा है । सुश्रुत ने अर्क एवं अलर्क ये दो भेद लिखे हैं । भावप्रकाशकार श्वेत एवं रक्त ये दो भेद लिखते हैं । धन्वन्तरि निघण्टु में अर्क एवं राजार्क ये दो भेद दिये हैं । राजनिघण्टु में अर्क, राजार्क, शुक्लार्क एवं श्वेतमन्दारक ये ४ भेद लिखे हैं । राजार्क के जो अन्य पर्याय १०० नि० में दिये हैं वे भावप्रकाशोक्त श्वेतार्क से मिलते हैं । अरुणदत्त ने मन्दारक को श्वेतपुष्प लिखा है (सू. अ. १५) । इससे अनुमान होता है कि राजार्क तथा श्वेतमन्दारक ये श्वेतार्क के ही भेद होंगे । रा. नि. ने राजार्क को सदापुष्प एवं श्वेत मन्दारक को दीर्घपुष्प लिखा है । इससे ऐसा मालूम होता है कि श्वेत पुष्पवाले किन्तु जिसमें बारहो मास पुष्प आते हों उसे राजार्क एवं जिसके पुष्प श्वेत एवं दीर्घ हों उसे मन्दारक कहा गया हो ।

आधुनिक ग्रन्थों में इसके दो भेद पाये जाते हैं किन्तु उनके लेटिन नामों में विद्वानों में मतभेद है । केलोट्रोपिस् जाइगेन्टीआ को कुछ विद्वान् श्वेतार्क (अलर्क, मदार) तथा केलोट्रोपिस् प्रोसेरा को रक्तार्क (अर्क) मानते हैं किन्तु अन्य विद्वान् इसके विपरीत मानते हैं । यहाँ पर दोनों का वानस्पतिक वर्णन अलग-अलग दिया गया है । चिकित्सा की दृष्टि से मदार के सभी भेदों के गुण समान होते हैं । रक्तार्क या श्वेतार्क के भेद से उपयोगिता में कोई अन्तर नहीं होता ।

२३ श्वेताक

सं०—अल्बर्क, मंदार। हि०—मदार, आक। म०—रुई, आक। बं०—आकंद। गु०—आकडो। ता०—बदाबडम, एरुकु। ते०—मंदारसु, जिल्लेडु। क०—एक। मल०—एरिका। अ०—उषर, उषार। फा०—खरक, जहूक। अं०—मडार (Mudar); जायगॅन्टिक् स्वॅल्वर्ट (Gigantic Swallow-wort)। ले०—*Calotropis gigantea* (Linn.) R. Br. ex Ait. (कॅलोट्रोपिस जाइगेन्टीआ लिन.)। Fam. Asclepiadaceae (एस्कलेपिएडॅसी)।

यह हिमालय में १००० फीट की ऊँचाई तक तथा पंजाब से लेकर दक्षिण भारत, आसाम, लंका एवं सिंगापुर में ऊसर भूमि में पाता जाता है। यह मलाया द्वीप तथा दक्षिण चीन में भी होता है।

इसका छुप या छोटा वृक्ष—बहुवर्षीय तथा ८-१० फीट तक ऊँचा रहता है। पत्र—अवृन्त, मोटे, क्षोदलिप्त हरे रंग के, अंडाकार या अमिलट्वाकार—आयताकार, ४-८ इंच लंबे, १.५-४ इंच चौड़े एवं पर्णतल की तरफ संकुचित हृदयाकार या प्रायः काण्ड को कुछ घेरे रहते हैं। पुष्प—१.५-२ इंच व्यास के, गंधहीन तथा अन्तर्दल फैले हुये एवं नीलछोदित (Purplish) या श्वेत रंग के होते हैं। फल—करीब ४ इंच लंबे, मुड़े हुये एवं फूलों से एक सेवनीक फल (Follicle) रहते हैं। बीज—महीन सिल्क की तरह गुच्छेदार रुई से युक्त तथा छोटे एवं चिपटे होते हैं। इसकी शाखाओं तथा पत्रादि से दुग्ध निकलता है। इसके गुण और प्रयोग आगे रक्ताक के साथ ही दिये गये हैं।

२४ रक्ताक (अर्क)

ले०—*Calotropis procera* (Ait.) R. Br. (कॅलोट्रोपिस प्रोसेरा एट.)।

यह भारतवर्ष के प्रायः सभी प्रान्तों में उष्ण एवं शुष्क स्थानों में पाया जाता है। यह हिमालय के निचले भागों में तथा उत्तर-पश्चिम में उसके समीप के मैदानों में अधिक होता है। बजौरिस्तान, अफगानिस्तान, पश्चिमा, अरब, इजिप्त तथा अफ्रीका का उष्ण प्रदेश इन स्थानों में भी यह पाया जाता है। इसका छुप—स्वावलंबी एवं प्रायः ६-८ फीट ऊँचा होता है। पत्र—अवृन्त, प्रायः २-६ इंच लंबे, १॥-३ इंच चौड़े, चौड़े लट्वाकार—आयताकार, अण्डाकार या अमिलट्वाकार होते हैं। पुष्प—१ इंच व्यास के, सुगन्ध युक्त एवं गुच्छों में आते हैं। अन्तर्दल श्वेताभ रहते हैं तथा सीधे ऊपर की ओर उठे हुये दलखण्डों के ऊपर जासुनी (आनीलाहण) रंग के दाग होते हैं। फल—३-४ इंच लंबे, २-३ इंच चौड़े, गोल अंडाकार होते हैं। बीज—रुईदार श्वेताक की तरह ही होते हैं। इसके पत्ते आदि से भी दूध निकलता है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के अर्क के मूल, पत्र, पुष्प एवं क्षीर आदि का औषध में उपयोग किया जाता है। इनके मूल की छाल का विशेष उपयोग किया जाता है। इसके छोटे, मुड़े हुये, २-५ मि. मि. मोटे एवं २-३.५ से. मि. चौड़े टुकड़े होते हैं। कभी-कभी इनमें उपमूल लगे रहते हैं। इसका बाह्यभाग मुलायम, हलके पीतवर्ण (Buff) का एवं लम्बाई में नालीदार होता है एवं अन्दर की सतह हलके पीले रंग की एवं रवेदार होती है। इसका भस्म छोटा एवं दुग्ध युक्त होता है। इसमें गंध नहीं होती तथा इसका स्वाद कड़ुआ एवं तीता होता है। ग्रीष्मऋतु में पुराने से पुराने बड़े (के. जाइगेन्टीआ) छुप के मूल की छाल को निकाल कर, शीतल जल से जल्दी धोकर खुली हवा में सुखाने। धूप में न रखे। जब उसमें का दूध सूख जाय तब ऊपर की कार्कयुक्त सतह निकाल कर बाकी भाग को सुखा एवं चूर्ण बना हवाबंद बौतलों में रखे।

औषध के अतिरिक्त इसके बीजों की रुई एवं छाल से तन्तुनिर्माण किया जा सकता है। इसके दुग्ध का चमड़े के न्यवसाय में उपयोग किया जाता है। इससे नये चमड़े की दुर्गंध दूर होकर उसका रंग पीला हो जाता है। चमड़े के बालों को साफ करने के लिये भी इसका उपयोग करते हैं।

इसके किसी-किसी वृक्ष पर एक प्रकार का शर्करावत् निर्यास संग्रहीत होता है ऐसा हकीम मानते हैं जिसे 'सुकरूलउषर' कहा जाता है। जिन जातियों में लड़कियों की हत्या की प्रथा है उनमें इसके दुग्ध को जबरदस्ती बच्चे को पिलाते हैं। गर्भपात के लिये भी इसका आन्तरिक तथा स्थानिक प्रयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—के. जाइगेन्टीआ के मूल की छाल में बोटा-एमाइरिन (B. amyrin) एवं आइसो गिगंटीओल् (Giganteol) तथा आइसो जाइगेन्टीओल् (Iso Giganteol) ये दो सभाजिक रवेदार सुषव (Isomeric crystalline alcohols) पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—इसकी मूलरवक कड़, तिक्त, उष्ण, दीपन, पाचन, स्वेदजनन, पित्तस्रावी, कफघ्न, धामक, उद्वेष्टननिरोधी, रसग्रंथी एवं त्वचा के लिये उत्तेजक, जीवनविनिमय क्रिया को उत्तेजित करने वाली, वर्य एवं रसायन है। अल्प मात्रा में यह उत्तम स्वेदक एवं कफघ्नसारक होते हुए भी अधिक मात्रा से इससे वमन, विरेचन तथा प्रक्षोभ उत्पन्न होता है। इसका वामक प्रभाव आमाशयप्रक्षोभ एवं बमनकेन्द्र की उत्तेजना से होता है। इसका उद्वेष्टननिरोधी गुण साधारण है किन्तु उसका श्वासनलिकाओं पर स्पष्ट प्रभाव दिखलाई देता है। रसायन होने के कारण इसी श्वासनलिकाओं पर रक्त कड़ा जाता है। इससे यकृत की क्रिया अच्छी होकर पित्तस्राव ठीक होशे लगता है। इसका उत्सर्ग त्वचा के द्वारा होने के कारण इससे त्वचा पर उत्तेजक प्रभाव दिखलाई देता है एवं छोटी रक्तवाहिनियों का विस्फार होता है।

(१) रक्तविकार, कुष्ठ, उपदंश या किसी भी कारण से उत्पन्न त्रण में इसका आंतरिक एवं बाह्य प्रयोग करते हैं। श्लेष्म में इसके साथ रसकपूर या रससिन्दूर, सुरमा (स्रोतोवजन) एवं साधारणभस्म देते हैं तथा कांजी में पीसकर शोथ पर लेप करते हैं। उपदंश में पारद की तरह इसका उपयोग होता है। उपदंश की द्वितीयावस्था में त्वचा पर उत्पन्न चकत्ते आदि इससे कम होते हैं। बूद (Bubo) तथा गंडमाला में इसको खिलते तथा इसके दूध को लगाते हैं। सभी प्रकार की चर्मरोगों में छाल को जल में पीस कर लगाते हैं या खुजली अधिक होने पर निमोली के तैल में धिसकर लगाते हैं। विशेषकर पुराने त्वग्रोगों में इससे अधिक लाभ होता है।

(२) सभी प्रकार के कफविकारों में इससे लाभ होता है। १५-३० र० चूर्ण को खिलाने से श्वासाक की तरह ३ घंटे के अंदर वमन होकर कफ बाहर निकल जाता है तथा कभी कभी विरेचन भी होता है। प्रतिश्याय तथा गले का नूतन शोथ, श्वासनलिकाशोथ आदि में वोडवच के साथ अर्कादिचूर्ण (अर्कचूर्ण २, अफीम १, सैधव ७; मात्रा—३-७ र०) का उपयोग किया जाता है। तमकथास तथा श्वासनिकाभिस्तोर्णता (Bronchiactasis) आदि व्याधियों में इसकी प्रयोग से पर्याप्त लाभ होता है।

(३) यकृत एवं प्लीहावृद्धि तथा उससे उत्पन्न उदर, पित्त का स्राव ठीक न होने के कारण उत्पन्न अतिसार तथा नई एवं पुरानी आँव में इसका बहुत उपयोग किया जाता है। आँव में छाल को ३०-४० रत्ती की बड़ी मात्रा में देना चाहिये किन्तु इसके साथ अफीम एवं सुगन्धि पदार्थ भी देने चाहिये अन्यथा वमन की संभावना रहती है। कुपचन में ३ रत्ती छाल देने से पथ्यशक्ति बढ़ती है।

(४) जीर्ण ज्वर एवं विसर्गा ज्वर में इसका फाट पिलाते हैं। मलेरिया में इसकी छाल पान के साथ खिलते हैं।

(५) जीर्ण आमवात में अर्कादिचूर्ण सोंठ के साथ रात को देने से पसीना होता है, संविशूल कम होता है एवं निद्रा आती है।

इसके दुग्ध का मोटा लेप करने से त्वचा का दाह होकर फोड़े उरपन्न होते हैं किन्तु पतला लेप अल्प वेदनाहर एवं लोमशातक है। इसके आन्तरिक प्रयोग से अत्यन्त विरेचन होता है। इसके गुण भी मूल की तरह ही होते हैं किन्तु इसका कम जादा प्रभाव होता है।

(१) यकृत एवं प्लीहावृद्धि तथा तज्जन्य उदर में इसका आन्तरिक प्रयोग करते हैं।

(२) मोच, मरोड़ एवं संविशोध में नमक में इसको मिलाकर लगाने से सूजन कम होती है। दाहहरिद्रा के चूर्ण में इसको मिलाकर उसकी बत्ती भगंदर तथा नाडीत्रण में डालते हैं। दाद एवं छाजन आदि त्वचा के रोगों में एवं आमवात में इसको हल्दी के साथ तिल के तैल में उबालकर मालिश करते हैं। अर्श में यद्यपि इसका लेप करते हैं तथापि इससे बहुत तकलीफ होती है। मुखरोगों में मधु के साथ इसे लगाते हैं। कृमिदन्त में दाँत के गढ़े में इसे लगाने से दर्द कम होता है।

इसके पुष्प दीपन, पाचन, कफघ्न एवं उद्वेष्टननिरोधी हैं। मूल की अपेक्षा ये गुण इसमें अधिक स्पष्ट दिखलाई देते हैं।

(१) क्षुधानाश तथा कुपचन में इससे अच्छा लाभ होता है।

(२) खाँसी एवं दमा में इसके फूलों को राब में उबालकर देते हैं।

इसके पत्ते वातहर, शोथहर, त्रणशोधक, त्रणरोपक एवं आनुलोमिक हैं।

(१) जीर्ण त्रण पर इसका चूर्ण डालने से त्रण जल्दी अच्छे होते हैं।

(२) इसके पत्तों को रेंडी का तेल लगाकर गरम करके सूजन पर बांधने से सूजन तथा पीड़ा कम होती है।

(३) बच्चों के आध्मान में पेट पर इनको बांधने से एकाधवार पाखाना होकर आध्मान कम होता है।

(४) इसके पत्तों को तेल में उबाल कर चोट पर उसकी मालिश की जाती है।

(५) इसके पत्ते एवं सैधव को समान भाग में लेकर बन्द हाँडी में गरम करके बनाई हुई राख तक के साथ उदररोग में देते हैं।

मात्रा—मूलत्वकचूर्ण १३-२३ रत्ती; वामक १५-३० रत्ती; दुग्ध १-२ रत्ती; पत्रचूर्ण २ रत्ती-१ माशा; फूल १-३ रत्ती।

अथ सेहुण्डः [सेहुण्ड, थूहर] । तस्य नामानि गुणांश्चाह

सेहुण्डः सिंहतुण्डः स्याद्बज्री वज्रदुमोऽपि च ।

सुधासमन्तदुग्धा च स्नुक्स्त्रियां स्यात्स्नुही गुडा ॥ ७३ ॥

सेहुण्डो रेचनस्तीक्ष्णो दीपनः कटुको गुरुः ।

शूलामाष्ठीलिकाऽऽध्मानकफगुल्मोदरानिलात् ॥ ७४ ॥

१. शूलमष्ठीलिका इति पाठा० ।

^१उन्मादमोहकुष्ठार्शः शोथमेदोऽश्मपाण्डुताः ।

त्रणशोथज्वरप्लीहविषदूषीविषं हरेत् ॥ ७५ ॥

सेहुंड (थूहर) के नाम तथा गुण—सेहुंड, सिंहतुण्ड, बज्री, वज्रदुम, सुधा, समन्तदुग्धा, स्नुक् (स्नुद्), स्नुही (स्त्रीलिङ्ग में होता है) और गुडा ये सब संस्कृत नाम थूहर के हैं। थूहर—रेचक, तीक्ष्ण, अग्निदीपक, कटु रस युक्त तथा गुरु होता है। यह—शूल, आमदोष, अष्ठीलिका, आध्मान, कफ-गुल्म, उदररोग, वात, उन्माद (पागलपन), मोह (मूर्च्छा), कुष्ठ, बवासीर, शोथ, मेदरोग, पथरी, पाण्डुरोग, त्रणशोथ, ज्वर, प्लीहा, विष और दूषीविष को दूर करता है ॥ ७३-७५ ॥

अथ स्नुहीदुग्धगुणानाह

उष्णवीर्यं स्नुहीक्षीरं स्निग्धञ्च कटुकं लघु । गुल्मिनां कुष्ठिनाञ्चापि तथैवोदररोगिणाम् ॥ ७६ ॥

हितमेतद्विरेकार्थं ये चान्ये दीर्घरोगिणः ।

थूहर का दूध—उष्णवीर्य, स्निग्ध, कटुरसयुक्त और लघु होता है तथा यह गुल्म, कुष्ठ और उदररोग वालों के लिये एवम् जो दीर्घकाल से रोगी हैं उनके लिये भी विरेचन कराने में हितकर है ॥ ७६-७७ ॥

नोटः—सेहुण्ड की कई जातियाँ पाई जाती हैं। जिस सेहुण्ड में बहुत कटि हों वह, अल्प एवं तीक्ष्ण कटि वाले सेहुण्ड की अपेक्षा अच्छा माना गया है।^२ इसी प्रकार २-३ वर्ष पुराने सेहुण्डवृक्ष से शिशिरऋतु के अन्त में दुग्ध निकाल कर व्यवहार करने को लिखा है।^३ सुश्रुत ने (सु. अ. ३९) अथोभागहरण में सेहुण्ड के मूल और क्षीर दोनों का उपयोग करने को लिखा है तथा स्नुक् एवं महावृक्ष ये दो अलग-अलग द्रव्य लिखे हैं। सुश्रुतने (सु. अ. ३८) श्यामादिगण में सुधा नाम से इसका उल्लेख किया है। चरक ने इसके दुग्ध को तीव्रतम विरेचन माना है तथा उचित प्रयोग से यह दोषों के महान् संचय को भी शीघ्र हरता है ऐसा लिखा है। किन्तु मृदुकोष्ठ वाले में, दोषों का संचय अल्प होने पर एवं अन्य उपाय से रोगी अच्छा हो सकता हो तो इसके प्रयोग का निषेध किया है।^४ चरक (सू. अ. १) में षोडशमूलिनी औषधियों में अथोगुडा शब्द आया है। उसका अर्थ श्रीभगीरथजी स्वामी ने 'गुडायाः (स्नुदेः) अधः (अथोभागः मूल) इति अथोगुडा' यह लिखा है तथा श्रीयादवजी ने इसका समर्थन किया है। (द्रव्यगुणविज्ञानम्, उत्तरार्ध द्वितीय खण्ड, पृ० ३३०) ।

१. मेह इति पाठा० ।

२. द्विविधः स मतो यश्च बहुमिश्चैव कण्टकैः ।

सुतीक्ष्णैः कण्टकैरल्पैः प्रवरी बहुकण्टकः । (च. क. अ. १०)

३. तं विषाद्याहरेत्क्षीरं श्लेष्ण मतिमान् भिषक् ।

द्विवर्षं वा त्रिवर्षं वा शिशिरान्ते विशेषतः ॥ (च. क. अ. १०)

४. विरेचनानां सर्वेषां सुधा तीक्ष्णतया मता । सघातं हि भिन्नतयाशु दोषाणां कष्टविभ्रमा ॥ तस्मान्नैषा मृदौ कोष्ठे प्रयोक्तव्या कदाचन । न दोषनिचये चारुपे सति चान्यपरिक्रमे ॥ पाण्डुरोगोदरे गुल्मे कुष्ठे दूषीविषादिते । श्वयो मधुमेहे च दोषविभ्रान्तचेतसि ॥ रोगैरेवंधिषै ग्रस्तं ज्ञात्वा सप्रणमातुरम् । प्रयोजयेन्महावृक्षं सम्यग्स ह्यवचारितः ॥ सधो हरति दोषाणां महान्तमपि संचयम् । (च. क. अ. १०)

आधुनिक उद्भिदवेत्ताओं ने इसकी निम्नलिखित जातियों का वर्णन किया है। यु० तिरुकोळि को कुछ लोगों ने सातला माना है तथा उसका वर्णन सप्तला के अन्तर्गत किया गया है।

१. *Euphorbia nerifolia* Linn. (युफोर्बिया नेराइफोलिया लिन.); सेहुण्ड, थोहर, मन्सासिज।

२. *E. nivulia* Buch. & Ham. (यु० निवुलिया बुच; हैम); पटके, सिज, सेहुण्ड।

३. *E. antiquorum* Linn. (यु० ऐन्टिकोरम् लिन.); तिधारा सेहुण्ड।

४. *E. trigona* Haw. (यु० ट्राइगोना हॉ.); तिधारा सेहुण्डभेद।

५. *E. trinacalli* Linn. (यु० तिरुकोळि लिन.); लंकासिज, अंगुलिया थूहर, छिमिया सेहुण्ड।

६. *E. royleana* Boiss (यु० रायलिआना बायस); थोर, सुरू।

२५ थूहर

हि०—थूहर, सेंहुड, सेंडुर, सेंड, मुठरिया सीज, मुठिया सीज, सौझ, थोहर, पटके। बं०—मनसा सिज। म०—वई निवडुङ्ग, मिनगुटथोर। गु०—थोर, कांटलो, कंटालो। ते०—आकुजे, सुडु। ता०, क०, मल०—इरुलैकळि। फा०—लादानाम्। अ०—जुकुमफर्युन। अ०—Milk Hedge (मिक् हेज), Common Dulkhedge (कामन् डक हेज)। ले०—*Euphorbia nerifolia* Linn. (युफोर्बिया नेराइफोलिया लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह बङ्गाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, पश्चिमोत्तरप्रदेश, दक्षिण तथा अन्य प्रान्तों में पाया जाता है। इसका झाड़ू-१०-१५ फीट तक ऊँचा होता है। शाखाएँ-सीधी और गुदेदार होती हैं। इसके डंठल और शाखाओं पर जगह-जगह कांटे रहते हैं और कांटे चौथाई से आध इञ्च तक लम्बे जोड़े में होते हैं। इन कांटकीभूत उपपत्रों के परस्पर मिलने से काण्ड पञ्चकोणीय बन जाता है। लकड़ी-कोमल होती है। प्रायः शाखाओं के अन्त में चारों ओर से गुच्छाकार पत्ते लगे रहते हैं। वे पत्थरचट्टे के समान मोटे, ६ से १२ इञ्च तक लम्बे, अभिलटवत्कार होते हैं। अधःपत्रावलि (Involucre) पीताम होती है। फूल-छोटे-छोटे हरापनयुक्त पीले और फल-आधा इञ्च तक चौड़े होते हैं। बीज-चपटे तथा कोमल लोमयुक्त होते हैं। इसकी शाखाओं और पत्तों से दूध निकलता है।

इसकी दूसरी जाति यु० निवुलिया बुच, हैम (*E. nivulia* Buch. & Ham.) के वृत्त-१०-३० फीट ऊँचे, शाखाएँ-सीधी, गोल, खण्डमय, चक्राकार क्रम में निकली हुई और सीधे दो-दो एक साथ कांटकीभूत उपपत्रों से युक्त होते हैं। पत्ते-अस्थायी, मांसल, ९ इञ्च लम्बे, २-३ इञ्च चौड़े, रेखाकार अभिप्रासवत् अथवा सूवाकार कुण्ठिताग्र और अचूत होते हैं। शीत व ग्रीष्मकाल में पत्ते नहीं रहते। पकाम्ब्यूह (*Cyathium*) में अधः पत्रावलि (Involucre) पीली होती है। ये पौधे विशेषकर शुष्क तथा नग्न पहाड़ियों पर अधिक होते हैं। पहली जाति के पौधे गाँवों की बाड़ों पर अधिक पाये जाते हैं।

चिकित्सा में इनके ताजे वा सुखाये द्रव्य, पत्र एवं मूल का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें युफोर्बिन, राल, गोंद, रबर की तरह पदार्थ एवं कॅल्शियम मॅलेट ये पदार्थ पाये जाते हैं। सेहुण्ड की जाति में पाये जाने वाला दाहजनक द्रव्य इसमें बहुत रहता है।

गुण और प्रयोग—इसका क्षीर अत्यन्त तीव्र विरेचन है। इससे वमन तथा पानी की तरह जुलाब होते हैं। इसके काण्ड का रस रेचन है। इसके पत्र का रस मूत्रजनन है। इसके मूल का रस उत्तेजक एवं उद्वेगनरोधि है।

(१) उदररोग में इसका क्षीर देते हैं। मिरिच को इसके क्षीर में डुबोकर सुखाकर रखते हैं तथा आवश्यकता पड़ने पर १-२ मिरिच के दाने खिलाते हैं। इसी प्रकार पिप्पली, लौङ्ग एवं त्रिवृतमूल आदि को इसके क्षीर की भावना देकर उनका उपयोग अत्यन्त तीव्र विरेचन की आवश्यकता होने पर करते हैं। उदर रोगी को विबन्ध होने पर भोजन के पूर्व इसके पत्तों का शाक खिलाते हैं। क्षीर चर्म पर लगने से दाह उत्पन्न होकर फोड़े उत्पन्न होते हैं।

(२) इसकी जड़ को मिरिच के साथ सूतिका-उवर एवं सर्पविष में देते हैं।

(३) इसके कांड का स्वरस त्वचा पर मलने से त्वचा लाल होती है। चर्मकील (Warts) में इसे लगाने से वे गिर पड़ते हैं। जीर्ण आमवात में संधिपीड़ा होने पर इसका स्वरस निंबौली के तेल में मिलाकर मलते हैं। इसके कांड को भूनकर उसका स्वरस निकाल कर मधु, टंकणक्षार तथा अडुसा के साथ कफविकारों में देते हैं। केवल स्वरस को कर्णशूल में डालते हैं।

(४) तमकधास में पत्तों का स्वरस या कांड का रस मधु के साथ देते हैं। पत्तों के अन्य गुण आगे शाक वर्ग में दिये हुये हैं।

(५) व्रण में इसके क्षीर को घृत के साथ मिलाकर लगाया जाता है।

मात्रा—मूल २ से ४ रत्ती; स्वरस २-५ बूँद; क्षीर ३-१ रत्ती।

२६ तिधारा थूहर

सं०—वज्रकण्टक, वज्री। हि०—तिधारासेहुड, तिधारा थूहर। बं०—बाजवारग, तेशिरमनसा, तैकाटसिज। म०—तीनधारी निवडुंग। ता०, मल०—चतुरकळी। ते०—बोम्मजेसुडु। अं०—Triangular sponge (ट्रायंगुलर स्पॉन्ज)। ले०—*Euphorbia antiquorum* Linn. (युफोर्बिया ऐन्टिकोरम् लिन.)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

यह प्रायः सभी प्रान्तों में पाया जाता है। इसके वृत्त-१२-२५ फीट ऊँचे होते हैं। काण्ड-खण्डमय और शाखाएँ-प्रायः ३ या कभी-कभी ४-५ पक्षों वाली होती हैं। इन पर कांटकीभूत उपपत्र होते हैं जो छोटे होते हैं। काण्डखण्ड भी इसमें छोटे होते हैं तथा ऊपर के काण्डखण्ड प्रायः उतने ही लम्बे होते हैं जितने मोटे। पत्ते-छोटे-छोटे होते हैं तथा सब वृक्षों में नहीं होते। पुष्प-द्विलिंगी प्रायः ३ इञ्च बड़े हरिताम पीत या लाल रंग के होते हैं। फल-३ इञ्च बड़े होते हैं। इसके द्रव्य, मूल एवं काण्ड का व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें युफोर्बिन ३५%, दो प्रकार की राल जिनमें से एक ईथर में घुलनशील तथा दूसरी न घुलने वाली, गोंद एवं रबर सट्टश पदार्थ १५% ये द्रव्य पाये जाते हैं। थूहर के जाति में पाया जाने वाला दाहजनक द्रव्य इसमें बहुत अल्प मात्रा में है।

गुण और प्रयोग—यह कफघ्न, ज्वरघ्न, रेचन एवं रक्तशोधक है। इससे कफ पतला होकर मुख एवं गुदा के द्वारा निकल जाता है। इसका प्रयोग प्लीहावृद्धि, कामला, कुष्ठ तथा सर्पविष में किया जाता है।

(१) बच्चों को कफविकारों में इसके कांड को गरम कर निकाले हुए रस में टंकणक्षार, मधु एवं अडुसा मिलाकर बहुत प्रयोग किया जाता है। बच्चों को इससे नुकसान नहीं होता। यदि मात्रा अधिक भी हो जाय तो इससे अधिक से अधिक पकाध वमन होता है तथा पाखाना साफ होता है।

(२) इसके मूल का काथ जीर्ण आमवात एवं उपदंश में दिया जाता है।

- (३) इसके दुग्ध को आमवातिक पीडा, दंतशूल एवं मस्ते आदि में लगाते हैं ।
(४) इसके दुग्ध को बेसन के साथ पकाकर गोली बनाकर सोजाक में देते हैं ।

मात्रा—काण्डस्वरस बच्चों को १३-२ माशा; बड़ों को १३-२ तोला ।

अथ सेहुण्डभेदः शातला । तस्या नामानि गुणांश्चाह

शातला सप्तला सारा विमला विदुला च सा । तथा निगदिता भूरिफेना चर्मकपेरथपि ॥
शातला कडका पाके वातला शीतला लघुः । तिक्ता शोथकफानाहपित्तोदावर्त्तरक्तजित् ॥

शातला (सेहुण्ड भेद) के नाम एवम् गुण—शातला, सप्तला, सारा, विमला, विदुला, भूरि-फेना और चर्मकषा ये सब संस्कृत नाम शातला के हैं ।

शातला—पाक में कड़ु, वातकारक, शीतवीर्य, लघु और तिक्तरसयुक्त होती है तथा यह शोथ, कफ, आनाह, पित्त, उदावर्त तथा रक्त-प्रकोप का नाश करती है ॥ ७८-७९ ॥

नोटः—सप्तला एक संदिग्ध द्रव्य है—चरक क. अ. ११ में 'सप्तला शंखिनी' कल्प का वर्णन है । वहाँ सप्तला के मूल का एवं शंखिनी के फल का जो अधिक शुष्क न हों तथा जिनका छिलका निकाल दिया गया हो उनका व्यवहार कफ की अधिकतायुक्त गुल्म, गर्दोष, हृद्रोग, कुष्ठ, शोफ एवं उदररोग में करने को लिखा है क्योंकि यह विकसि, तीक्ष्ण एवं रूक्ष होता है । चरक ने विरेचनद्रव्यों में (सू. अ. २., वि. अ. ८) इसका उल्लेख किया है । सुश्रुत में श्यामादि-गण में एवं उभयतोभागहर द्रव्यों में इसके स्वरस का तथा अधोभागहर द्रव्यों में मूल का उपयोग लिखा है । सप्तला के साथ प्रायः प्रत्येक स्थान पर शंखिनी का उल्लेख मिलता है । टीकाकारों ने शंखिनी को यवतिक्ता तथा कहीं यवतिक्ता भेद लिखा है । सप्तला का अर्थ कहीं पर स्तुहीभेद तथा कहीं पर यवतिक्ताभेद किया गया है । कहीं पर 'बुधनामाहुः' तथा 'अपरे श्रीफलिकामाहुः' इस प्रकार उल्लेख करते हुए बुधना या श्रीफलिका नामक वनस्पति की तरफ निर्देश किया है । कुछ लोगों ने पीतदुग्ध सेहुण्ड को सप्तला लिखा है । उपर्युक्त वर्णन से यह मालूम होता है कि सप्तला यह कोई सेहुण्ड का ही भेद होगा । कुछ आधुनिक विद्वानों ने युफोर्विआ तिरुकैलि लि. (*Euphorbia tirucalli* Linn.), अंगुलिया थूहर-नामक सेहुण्ड के भेद को सप्तला माना है । श्रीमान् ठा. बलवन्त सिंह जी ने युफोर्विआ ड्रैकन्युलॉइड्स, लैम (*Euphorbia dracunculoides* Lam.)—तितली के लिये सप्तला होने की सम्भावना पर विचार करने को लिखा है । (विहार की वनस्पतियाँ, पृ. २४)

कुछ अन्य विद्वानों ने सप्तला को शिकाकाई (*Acacia concinna* DC.) लिखा है । सप्तला को 'विमला', 'भूरिफेना' एवं 'चर्मकषा' ये पर्याय शिकाकाई के होने की सम्भावना दर्शित करते हैं तथा यह भी बामक एवं विरेचक है । कुछ लोगों ने ले०—*Origanum vulgare* Linn. (ओरिगनम हलगेर लि.), हि०—सथरा, Fam. Labiatae (लेविपटी) को सप्तला लिखा है जिसमें का सुगन्धि उड़नशील तैल उत्तेजक एवं अतिसार में बर्य होता है तथा आमवात, दन्त-शूल एवं कर्णशूल में उसका उपयोग किया जाता है ।

यहाँ अंगुलिया थूहर, तितली एवं शिकाकाई तीनों का अलग-अलग वर्णन किया गया है ।

१. ते गुल्मगर्दोषकुष्ठशोफोदरदिवु । विक्कासितीक्ष्णरूक्षत्वाद्योज्ये श्लेष्माधिकेपु तु ।
नातिशुष्कं फलं माहं शंखिन्या निस्तुशीकृतम् । सप्तलायाश्च मूलानि गृहीत्वा भाजनेक्षिपेत् ॥

२७ सातला १ (अंगुलिया थूहर)

हि०—अंगुलिया थूहर, छिमिया सेहुण्ड । बं०—जटालंका, लंकासिज । म०—निवल, थोर, शेर । गु०—डांडलीओ थोर, खरसाणी थोर । ता०—कल्लि । ते०—जेसुदु । क०—मोडगलि । मल०—तिरुकल्लि । ले०—*Euphorbia tirucalli* Linn (युफोर्विआ तिरुकैलि लि.) । Fam. Euphorbiaceae (युफोर्विआसी) ।

यह बंगाल, बिहार, सिन्ध, कोंकण एवं गुजरात आदि स्थानों में पाया जाता है । इसका आदिम स्थान अफ्रीका है ।

इसका वृत्त-छोटा, १५-२० फीट ऊँचा होता है । इसे कहीं से काटने से बहुत दूध निकलता है । इसकी मुख्य शाखायें सीधी परन्तु उपशाखायें हरी, चिकनी, चमकीली, गोल (घेरे में), चक्राकार निकली हुई और बहुत पतली होती हैं । इसपर काटे नहीं होते । पत्ते-बरसात में ३ इंच तक लम्बे एवं गूदेदार पत्र निकलते हैं । पुष्प-उपशाखाओं के बीच, छोटे एवं प्रायः की पुष्प रहते हैं । फल-५ मि. मि. चपटा एवं बीज-अंडाकार तथा, चिकना रहता है । इसके दुग्ध से मछली मरती है । इसके दुग्ध एवं छाल का प्रयोग चिकित्सा में किया जाता है ।

रासायनिक संगठन—थूहर की तरह ।

गुण और प्रयोग—इसका दुग्ध अत्यन्त प्रक्षोभकारक है । इससे वमन एवं विरेचन होता है तथा त्वचा पर इसे लगाने से फोड़े उत्पन्न होते हैं ।

जीर्ण उपद्रव में संधिपीडा के लिये इसके दुग्ध का प्रयोग करते हैं । नाडीशूल में दुग्ध का लेप लाभदायक होता है । इसको लगाने से मस्ते गल कर गिर पड़ते हैं । इसको लगाते समय इसमें तिल का तेल मिला लेना चाहिये ।

विरेचन के लिये २ बूंद दुग्ध, बेसन एवं मधु के साथ गोली बना कर दिया जाता है । इसके कोमल कांड एवं मूल का काथ उदरशूल में दिया जाता है ।

मात्रा—दुग्ध १-२ रत्ती ।

२८ सातला २ (शिकाकाई)

हि०—शिकाकाई, सिकाकाई, चिकेकाई ऐला । बं०—वनरीठा । म०—शिकेकाई । गु०—चिका-खाई । ता०—शीयक्काय् । ते०—शीकाय । क०—शिगे । ले०—*Acacia concinna* DC. (एक्सिआ कॉन्सिन्ना डीसी.) । Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी) ।

उत्तर भारत तथा हिमालय में उत्पन्न होने वाले वृक्ष गुणों की दृष्टि से दक्षिण में होने वालों की अपेक्षा श्रेष्ठ माने जाते हैं । इसके गुल्म प्रायः कम मिलते हैं किन्तु सभी स्थानों पर पाये जाते हैं ।

इसका गुल्म (क्षुप)—बहुत फेला हुआ, अत्यन्त काटेदार एवं लंबी आरोही शाखाओं से युक्त रहता है । उपशाखायें हल्की श्वेताम और टेढ़े, मजबूत कांटों की पांच कतारों से युक्त रहती हैं । पत्ते-पक्ष्वाकार एवं पत्रक खट्टे होते हैं । फूल-गुण्डक (Capitulum) पीताम रवेत या गुलाबी रंग के लगभग ३ इंच व्यास में होते हैं । फली-३-५ इंच लम्बी, १ इंच चौड़ी, मोटी, मांसल, चोंचदार एवं बीजों के बीच बीच संधियों पर संकुचित होती है । इसका स्वाद रीठे के समान परन्तु अधिक खट्टा, कम कड़वा तथा अधिक तीता रहता है । इसे पानी में भिगोकर मसलने से रीठे के समान ज्ञाग निकलता है । त्रि के बाल एवं रेशमी बर्र धोने के लिये इसका उपयोग करते हैं । इसके पत्र एवं फली का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है ।

रासायनिक संगठन—इसकी फली में सैपोनिन् (Saponin) ११.२%, मॅलिक एसिड (Malic acid) १२.७५%, राल १%, ग्लूकोज १३.९%, गोंद एवं रंजक द्रव्य २१.५%, तन्तु २२% एवं राल ३.७५% रहती है।

गुण और प्रयोग—इसकी फली उत्तेजक, कफघ्न, वामक एवं आनुलोमिक है। इसकी क्रिया रीठा या सेनेगा जैसी होती है। इससे नाडी की गति कम होती है तथा मूत्र की मात्रा बढ़ती है। इसके पत्र खट्टे, रोचक, यकृत उत्तेजक तथा विरेचन होते हैं। इसकी के बदले इनका उपयोग किया जा सकता है।

(२) पुराने कफविकारों में कफ पतला करने के लिये एवं श्वासावरोध कम करने के लिये इसके फलों का फाट (१-२०) २ से ४ तोले की मात्रा में देते हैं। इससे पाखाना भी साफ होता है।

(२) कामला में काली मिरिच के साथ इसके पत्तों का उपयोग किया जाता है। इससे विरेचन तथा कमी-कमी वमन भी होता है तथा पित्त का स्राव उचित होने लगता है। यकृत की क्रिया ठीक न होती हो तो भोजन में खटाई के लिये इसके पत्तों का एवं लाल मिर्च के स्थान पर काली मिरिच का उपयोग किया जाता है।

(३) इसके फली के काथ से बाल धोने से जूँए आदि मरती हैं, रूसी नष्ट होती है तथा केशवृद्धि होती है। काथ में बची डुबोकर बच्चों के गुदा में डालने से पाखाना होकर कंठी निकल जाती है।

मात्रा—फली का फाट २-४ तो०। पत्रचूर्ण २-४ माशा।

२९ सप्तला ३ (तितली)

हि०—जायची, तितली। संथा०—परवा। बं०—छागल पुपटी, जायची। पं०—कंगी। मद्रा०—तिरुका-काड। ले०—*Euphorbia dracunculoides* Lam. (युफोर्बिया ड्रैकन्कुलोइडिस लैम्)। Fam. Euphorbiaceae (युफोर्बिएसी)।

इसके छुप-एकवर्षीय, प्रायः ४-८ इञ्च ऊँचे, चिकने तथा सामान्यतः घूसर वर्ष के होते हैं। इसमें पीताम क्षीर होता है। शाखाएँ प्रायः द्विविभक्त क्रम में निकली हुई रहती हैं। पत्ते-अभिमुख (नीचे कुन्तल) अचूत, रेखाकार, रेखाकार प्रासवत या रेखाकार आयताकार और ७-२ इञ्च लम्बे होते हैं। पुष्प-पुष्पाकार व्यूह एकाकी और द्विविभक्त काण्ड के बीच में होते हैं।

इसे कुछ लोग यवतिका भी मानते हैं क्योंकि जब आदि के साथ खेतों में ही इसके छुप अधिकतर पाये जाते हैं। श्रीयुव ठा. बलवन्त सिद्ध जी ने इसे सप्तला या शंखिनी होने की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट किया है तथा उनके मत से इसकी सप्तला होने की अधिक सम्भावना है।

वास्तविक सुहाव (*Ruta graveolens* Linn; Fam. Rutaceae रूटा-ग्रैवोलेन्स) के स्थान पर कहीं-कहीं पंसारी इसको बेचते हैं जो गलत है।

ग्रामीण इसके बीज तैल को जलाने के काम में लेते हैं। चर्म रोगों में भी यह उपयोगी बतलाया जाता है।

अथ कलिहारी। तस्या नामानि गुणांश्चाह

कलिहारी तु हलिनी लाङ्गली शक्रपुष्पयि। विशल्याऽशिशिखाऽनन्ता वहिवक्त्रा च गर्भनुत्॥

कलिहारी सरा कुष्ठशोफार्शोत्रणशूलजित् ॥ ८० ॥

सद्यारा श्लेष्मजिचिका कटुका तुवराऽपि च। तीषणोष्णा कृमिहृद्बन्धी पित्तलागर्भपातिनी ॥ ८१ ॥

कलिहारी के नाम तथा गुण—कलिहारी, हलिनी, लाङ्गली, शक्रपुष्पी, विशल्या, अशिशिखा, अनन्ता, वहिवक्त्रा और गर्भनुत् ये सब संस्कृत नाम 'कलिहारी' के हैं। कलिहारी-दस्तावर, कुष्ठ, शोथ, बवासीर, त्रण तथा शूल को नष्ट करनेवाली, क्षारगुणयुक्त, कफनाशक तथा तिक्त, कटु और कषायरसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, कृमि को दूर करनेवाली, लघु, पित्तजनक तथा गर्भ को गिरानेवाली होती है ॥ ८०-८१ ॥

३० कलिहारी

हि०—कलिहारी, कलिकारी, करियारी, कलहिस, कलारी, लांगुली, करिहारी। बं०—विषलांगुली, उलटचण्डाल। म०—कललावी, इंदै, लालि, खल्वानाग, नागकरिआ। गु०—कलमारी, दूधियोषधनाग। क०—लांगुलिक। पं०—मल्लिम, करियारी। मा०—राजारड। ते०—अशिशिखा, अडविनामी। ता०—कलईपैकिशंगु। मल्ल०—मैशोत्रि। अं०—The glory lily (दि ग्लोरी लिलि), Tiger's claws (टाइगर्स क्लॉज)। ले०—*Gloriosa superba* Linn. (ग्लोरिओजा सुपर्बा लिन.)। Fam. Liliaceae (लिलिएसी)।

भारत के प्रायः सभी प्रान्तों के जंगल झाड़ियों में आप ही आप उत्पन्न होती है तथा बर्मा एवं लंका में भी पाई जाती है।

इसकी लता-पट्ट, आरोहणशील और सुन्दर होती है जो झाड़ियों या छोटे वृक्षों के ऊपर चढ़ी हुई पाई जाती है। काण्ड-पतला, कलम जितनी मोटाई का, गोल, मृदु एवं हरे रंग का होता है। यह १॥-२ फीट लम्बी होने पर भूमि की ओर नत हो जाती है किन्तु जब उसे किसी दूसरे वृक्ष का आश्रय मिलता है तब उसके सहारे ८-२० फुट तक ऊँची बढ़ जाती है। यह चौरासे के प्रारंभ में निकलती है और शीतकालके पहले ही सूख जाती है। इसका भौमिक तना हलाकार टेढ़ा, बेलनाकार परन्तु जगह-जगह कुछ संकुचित रहता है। इसीसे प्रतिवर्ष इसकी पुनरुत्पत्ति होती है। पत्ते-विषमवर्ती, ३ से ९ इञ्च तक लम्बे, पौन से एक इञ्च तक चौड़े, प्रायः विनाल, लट्वाकार-भालाकार एवं उनके अग्र सूत्राकार होते हैं जिनसे आश्रय को लपेट कर यह बढ़ती है। वर्षा के अन्त में इसमें फूल आते हैं। फूल-व्यास में ३-४ इञ्च, अधोमुखी और सुन्दर होते हैं। पुष्पनाल-३-६ इञ्च लंबा और उसका अग्र टेढ़ा होता है। पंखुदियौं-६, लहरदार, नीचे आधार की ओर पीताम, ऊपर नारंगी लाल और अन्त में पूर्णतः लाल होती हैं तथा जैसे-जैसे इनका विकास होता है वैसे-वैसे इनका रंग भी पीत से रक्त होता जाता है। फलियौं-बेराव की फलियों के समान होती हैं। उनमें बेराव के आकार के गोल-गोल लाल रङ्ग के बीज होते हैं।

कंदों के भेद से कलिहारी दो प्रकार की मानी जाती है। जिसका कन्द लम्बा, गोल, दो भागों में विभक्त अथवा दो लम्बे टुकड़े समकोण के समान जुड़े हुए होते हैं वह पुरुषजाति और जिसका कन्द गोल, किञ्चित् लम्बा एक ही रहता है वह स्त्री जाति कहलाती है। पुरुषजाति की जड़-फूलने के समय संग्रह करनी चाहिये और स्त्रीजाति का कन्द फूलने के बाद संग्रह किया जाता है।

इसके कन्द (भौमिक तना) का व्यवहार किया जाता है। यह श्वेत, मृदु, मांसल और स्वाद में तिक्त होता है। इसको गणना सप्त उपविषों में की गई है यद्यपि यह साधारण मात्रा में विषैला नहीं है। सुखप्रसव एवं अपरापातन के लिये इसके लेप धारण आदि का विधान है।

लांगली यह नाम कैंवाच के लिये भी आया हुआ है। कुछ लोग भूल से कोस्टस् स्पेसिओसस (*Costus speciosus* (Koenn.) Sm.) को लांगली मानते हैं जो वास्तव में केसुक है।

शोधन—इसके कन्द को टुकड़े कर चार-पांच दिन कुछ सैब मिश्रित तक में भिंगोकर गरम जल से धोकर सुखा लेने से इसका विष कम हो जाता है। प्रतिदिन तत्र नया डालना चाहिये। १ दिन गोमूत्र में भिंगोकर रखने से भी यह शुद्ध हो जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें दो रालें, कषाय द्रव्य, एक कड़ुआ विषैला क्षाराम सुपर्वाइन (Superbine) एवं अन्य क्षाराम ग्लोरियोसाइन (Gloriosine) ये द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह कड़ु, उष्ण, दीपन, बन्ध, वामक, रचक, पित्तविरचक, गर्भघातक एवं कुम्भेन है। इससे आपेक्ष एवं पचननलिका तथा गर्भाशय का दाह होता है। १-२ रत्ती की मात्रा में इससे भूख एवं शक्ति बढ़ती है।

इसका प्रयोग साजाक, त्वरोग, विच्छू एवं सर्पविष, कुष्ठ, अर्श एवं कृमि में किया जाता है। यह गर्भ के लिये हानिप्रद माना जाता है।

(१) इसके कंद को कूट कर जल में बहुत देर तक धोते हैं जिससे नीचे पिष्टवत् पदार्थ जमता है। उसका प्रयोग सोजाक में करते हैं।

(२) इसके कंद को पीसकर शुष्क त्वरोगों में एवं विच्छू आदि के काटने पर करते हैं जिससे वेदना कम होती है।

मात्रा—१-२ रत्ती।

अथ श्वेतरक्तकरवीरौ । तयोर्नामानि गुणांश्चाह

करवीरः श्वेतपुष्पः शतकुम्भोऽश्वमारकः । द्वितीयो रक्तपुष्पश्च चण्डातो लघुदन्तथा ॥ ८२ ॥
करवीरद्वयं तिक्तं कषायं कटुकञ्च तत् । झणलाघवकुम्भनेत्रकोपकुष्ठव्रणापहम् ॥ ८३ ॥

वीर्योष्णं कृमिकण्डूघ्नं भक्षितं विषवन्मतम् ॥ ८४ ॥

सफेद और लाल करवीर (कनेर) के नाम तथा गुण—करवीर, श्वेतपुष्प, शतकुम्भ और अश्वमारक ये सब 'सफेद कनेर' के संस्कृत नाम हैं। 'लाल कनेर' के संस्कृतनाम—रक्तपुष्प, चण्डात और लघुदन्त ये सब हैं। दोनों कनेर—तिक्त, कषाय और कटुरसयुक्त, उष्णवीर्य और व्रण में लघुता कारक होते हैं एवम् ये दोनों नेत्रकोप (नेत्रसम्बन्धी रोगविशेष), कुष्ठ, व्रण, कृमि और खुजली को नष्ट करते हैं। यह खा लेने पर विष की भाँति हानिकारक होते हैं ॥ ८२-८४ ॥

नोट—भावप्रकाशकार ने इसके श्वेत एवं रक्त ये दो भेद लिखे हैं। ध्वन्तरीनिघंटु में भी इसके दो भेद मिलते हैं किन्तु राजनिघंटु ने श्वेत, रक्त, पीत एवं कृष्ण ये ४ भेद लिखे हैं। यह अत्यन्त विषैला होने के कारण इसका आंतरिक प्रयोग बहुत कम मिलता है। भावप्रकाश में 'भक्षितं विषवन्मतम्' एवं ध० नि० में 'प्रक्षेपाद्विषमन्यथा' ऐसा लिखने से मालूम होता है कि इसका बाह्य प्रयोग ही अधिक किया जाता था। चरक एवं सुश्रुत में भी कुष्ठ एवं व्रण आदि के लिये इसके प्रयोग मिलते हैं। किन्तु चरक में कुष्ठ के लिये एवं सुश्रुत में अश्मरी और उदर के लिये इसके आन्तरिक प्रयोग भी मिलते हैं। आन्तरिक प्रयोग के समय बहुत सावधानी की आवश्यकता है।

१. स्नाने पाने च मतः तथाष्टमश्वमारस्य (च. वि. अ. ७-१५) । द्यूयोर्द्वारं तु प्रत्याख्याय... शुद्धकोष्ठन्तु मयेन अश्वमारकगुंजाकाकादनो मूलकरकं पाययेत् इक्षुकाण्डानि वा (सु. नि. अ. १४-८) । तिलापामार्गकदलीपलाशयववस्कजः । क्षारः पेयोऽपि मूत्रेण शर्करानाशनः परः । पाटलाकरवीरार्णां क्षारमेवं समाचरेत् (सु. वि. अ. ७-२२-२३) ।

आधुनिक विद्वानों ने श्वेत, रक्त एवं पीत इन ३ भेदों का ही उल्लेख किया है। कृष्ण करवीर का उल्लेख नहीं मिलता। श्वेत एवं रक्त करवीर का एक ही लेटिन नाम है। केवल पुष्प वर्ण में भिन्नता है। यहाँ पर श्वेत एवं रक्त का एक साथ तथा उसके पश्चात् पीत करवीर का वर्णन किया गया है। चिकित्सा में श्वेत एवं रक्त करवीर का ही अधिक व्यवहार किया जाता है।

३१ कनेर (श्वेत एवं रक्त)

हिं०—कनेर, कनइल, कनैल, करवीर। बं०—करावी, करवी। म०—कणेर। गु०—कणेर, करेण। ता०—अलरी। ते०—कस्तूरिपट्टे, गनेस। क०—कणगिडु। मल०—कणावीरम्। संथा०—राजवाहा। पं०—कनिर। अ०—दिपली, सम्मुलहिमार। फा०—खरजहूरा। अंग०—Sweet-scented oleander (स्वीट सेंटेड ओलियण्डर), Roseberry spurge (रूजबेरी स्पर्ज)। ले०—*Nerium odoratum Soland* (नेरियम् ओडोरम् सोलैंड)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। दक्षिण एवं उत्तरप्रदेश में यह जंगली होता है। बगीचों में फूलों के लिये यह लगाया हुआ मिलता है।

इसका छुप-मजबूत, सदा हरित, सीधी शाखाओं से युक्त एवं प्रायः १० फीट से अधिक ऊँचा नहीं होता। पत्ते—४-६ इञ्च लंबे, करीब १ इञ्च चौड़े, नुकीले एवं एक साथ ३-३ रहते हैं। फूल—सुगन्धयुक्त, श्वेत, रक्त एवं गुलाबी वर्ण के, करीब १ इञ्च व्यास के एवं व्यस्त छत्राकार (Salver shaped) होते हैं। फली—करीब ५-६ इञ्च लंबी, चिपटी एवं गोलाकार होती है। बीज—भूरे वर्ण के रोमावृत अनेक बीज होते हैं। इसके काण्ड को काटने से दुग्ध बहता है।

इसके सभी भाग विषैले होते हैं। जानवर इसको नहीं खाते। आत्मघात, परहत्या एवं गर्भपात आदि के लिये इसके जड़ को खाते हैं। इसके पुष्प शिवजी को चढ़ाये जाते हैं। इसके मूलत्वक् एवं पत्र का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में नेरिओडोरिन (Neriodorin) नामक जल में अविलेय तथा नेरिओ डोरेन (Neriodorein) नामक जल में विलेय ये दो कड़ुवे पदार्थ पाये जाते हैं जो हृदय के लिये अत्यन्त विषैले होते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें उड़नशील तैल, कषायान्ल, मोम, डिजिटॉलिन के सदृश नेरिन (Nerine) नामक रवेदार पदार्थ एवं रोसेजिनीन (Rosaginine) नामक ग्लूकोसाइड ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसके पत्तों में ओलियण्ड्रिन (Oleandrine) नामक क्षाराम, सूडोकारारिन (Pseudourarine) नामक ग्लूकोसाइड एवं नेरीन तथा नेरिण्टाइन (Neriantine) ये द्रव्य पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, चक्षुष्य, ज्वरहर, शोथघ्न, हृदय के लिये घातक एवं कुष्ठ, कण्डू, नेत्रकोप, खरोग तथा व्रण के लिये लाभदायक है। यह सब प्राणियों के लिये विषैला है। अल्प मात्रा में इसके मूल की क्रिया हृदय पर पीत कनेर की तरह होती है। मूल तीव्र मूत्रक एवं डिजिटॉलिस् तथा स्ट्रोफॅन्थस् के सदृश हृदय के लिये बलदायक है। पीत कनेर की अपेक्षा यह अधिक तीव्र है। ओलियण्ड्रिन के सूचिकाभरण से हृदय की गति १०-१२ तक प्रतिमिनट कम हो जाती है जो स्वस्थावस्था में ७२-८० तक रहती है। यदि इसको और देते रहें तो हृदय एवं श्वसन दोनों की क्रिया बन्द हो जाती है। इसका आन्तरिक प्रयोग बहुत सावधानी के साथ करना चाहिये।

(१) अल्प मात्रा में हृदय एवं तज्जन्य जलोदर में इसका बहुत सावधानी के साथ प्रयोग करने से मूत्रोत्सर्ग होकर जलोदर कम होता है। इसे खाली पेट नहीं देना चाहिये। अधिक मात्रा से शीत-आकर नाडी की गति बहुत कम हो जाती है, आक्षेप आते हैं एवं हृदय तथा श्वसन क्रिया बन्द पड़ती है।

(२) सर्पदंश में इसकी जड़ की छाल १-२ रत्ती की मात्रा में या १-२ पत्ते थोड़े-थोड़े अन्तर से देते हैं। इतनी अधिक मात्रा से वमन तथा एकाध दो पाखाना हो जाता है। ज्यादा से ज्यादा यह ६ माशे तक दिया जाता है।

(३) इसकी जड़ की छाल एवं पत्तों का बाह्य प्रयोग ही अधिक किया जाता है। त्वग्रोग, व्रणशोथ, कुष्ठ, कण्डू, शुष्क एवं पपड़ी युक्त त्वचा के विकारों में इसके मूल को तैल में पकाकर उस तैल की मालिश करते हैं। शोथ में पत्ते के काथ से सेंकते हैं। व्रण, अर्श, कुष्ठ, दाद तथा चकत्ता आदि पर इसकी जड़ को गोमूत्र में घिसकर लगाने से शोथ एवं पीडा कम होती है। अधिक दीर्घ व्रण में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये अन्यथा इसमें के सत्व का शोषण होकर तीव्र विषैले सार्वदेहिक परिणाम हो सकते हैं। उपदंशजन्य व्रण पर इसके मूल को जल में घिसकर लगाने से वेदना कम होती है एवं इसी प्रकार इसके पत्तों के काथ से प्रक्षालन करने से भी लाभ होता है। इसके पंचांग के स्वरस से सिद्ध तैल का व्यवहार पामा, कण्डू आदि त्वचा के रोगों में किया जाता है। नेत्रकोप में कोमल पत्तों को तोड़ने से प्रातः रस को डालने से लाभ होता है। पलित में इसको दूध में पीसकर लगाने से लाभ होता है।

मात्रा—मूलत्वक चूर्ण $\frac{1}{2}$ —१ रत्ती।

३२ कनेर (पीत)

हि०—पीला कनेर। बं०—कलकेफूल, कोलका फूल। म०—पिवली कण्डेर। गु०—पीली करेण। ता०—पञ्चैत्रलरि। ते०—पंचागवेत्र। अं०—Yellow oleander (यलो ओलिवण्डर); Exile Tree (पनसाइल ट्री); Lucky nut (लकी नट)। ले०—*Thevetia nerifolia* Juss. (थिवेटिया नेराइफोलिया जस्.)। Fam. Apocynaceae (एपोसाइनेसी)।

यह प्रायः सभी प्रान्तों में पाया जाता है। उष्ण प्रदेशों में यह अधिक होता है। यह अमेरिका का आदिवासी है परन्तु अब भारत में सर्वत्र फैल गया है। इसके पुष्पों के लिये यह बगीचों में लगाया जाता है।

इसका छुप-सदाहरित, सुन्दर एवं करीब १२ फीट ऊँचा होता है। पत्ते—रेखाकार-मालाकार, चमकीले एवं नुकीले होते हैं। फूल—घंटाकृति, पीतवर्ण के, किञ्चित् गन्धयुक्त, पाँच दलवाले तथा शाखाओं के अग्र पर होते हैं। फल—गोल, कच्ची अवस्था में हलके हरे रंग का तथा पकने पर भूरे रंग का १ $\frac{1}{2}$ —२ इंच व्यास का होता है जिसके अन्दर एक विशिष्ट त्रिकोणाकृति गुठली होती है। बीज—गुठली के अन्दर हलके पीतवर्ण के २ बीज रहते हैं। इसके प्रत्येक भाग से दुग्ध निकलता है।

इसके बीज अत्यन्त विषैले होते हैं तथा आत्महत्या, परहत्या एवं गर्भपात आदि के लिये प्रयोग किये जाते हैं। जानवरों के लिये भी यह विषैले होते हैं। इसकी छाल का व्यवहार चिकित्सा में किया जाता है। कोमल तहनियों की छाल को खुकी हवा में सुखाकर प्रयोग करना चाहिये। सुखाकर रखी हुई छाल कुछ महीनों में निःसत्व हो जाती है।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों के गूदे में ५७% तैल पाया जाता है जिससे एक थिवेटिन (*Thevetin*) नामक रवेदार, श्वेतवर्ण का ग्लूकोसाइड प्राप्त किया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें अन्य विषैले तत्व भी रहते हैं। इसकी छाल में भी यह पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसका क्षीर दाहजनक तथा तीव्र विषैला है। इसकी छाल कड़वी, भेदन, प्रभावशाली ज्वरघ्न तथा नियतकालिक ज्वरप्रतिबन्धक है। छाल की मात्रा अधिक होने

से पानी की तरह पतले दस्त एवं वमन होता है। इसके फल से वमन होता है। छाल की क्रिया तीव्र होने के कारण इसको हमेशा कम मात्रा में ही प्रयोग करना चाहिये।

बिछी में इसके ग्लूकोसाइड के सूचिकामरण से देखा गया है कि २ ग्राम प्रति कि. ग्राम की मात्रा में देने से वह दो घण्टे के अन्दर मर जाती है। इसका मुख्य विषैला परिणाम हृदय की मांसपेशियों पर होता है।

तीव्र विषैला होने के कारण इसका आन्तरिक प्रयोग बहुत कम किया जाता है।

(१) पार्यायिक ज्वर में इसकी छाल का टिक्चर (५ मे १) १०, १५ बूँद की मात्रा में दिन में ३ बार दिया जाता है। १ रत्ती इसकी छाल का चूर्ण १५ रत्ती सिकोना के बराबर गुणकारक होता है। ३ रत्ती धनकाथ देने से ज्वर की पारी नहीं आती। ज्वर आने पर फांट का प्रयोग करते हैं। इसको खाली पेट कभी भी प्रयोग न करें। इससे बहुत पसीना होकर शरीर ठंडा होता है। यदि थकावट हो तो उष्ण दुग्ध एवं थोड़ी अच्छी मदिरा देनी चाहिये।

(२) हृदयरोग तथा हृदयोदर में इसके प्रयोग से हृदय को बल मिलता है जिससे रुधिरा-मिसरणक्रिया ठीक होने लगती है। वृद्धों में रक्ताभिसरण अधिक होने से मूत्रोत्सर्ग अधिक होकर उदर कम होता है। इसका यह प्रभाव डिजिटैलिस् तथा इसी प्रकार कार्य करने वाली अन्य औषधियों जैसे कडू (हेलीबोर नाइग्रम्), श्वेत रक्त कनेर एवं जंगली प्याज आदि की तरह होता है। इस प्रकार की औषधियों का मिश्रण करके नहीं देना चाहिये। इनके साथ स्वेदजनन, मूत्रजनन तथा विरेचन द्रव्यों का प्रयोग किया जा सकता है।

मात्रा—टिक्चर (५ में १) १०—१५ बूँद; धनकाथ ३ रत्ती।

अथ धत्तूरः । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

धत्तूरधूतंधुत्तूरा उन्मत्तः कनकाह्वयः । देवता कितवस्तूरी महामोही शिवप्रियः ॥ ८५ ॥
मातुलो मदनश्चास्य फले मातुलपुत्रकः । धत्तूरो मद्दवर्णाशिवातकृज्वरकुष्ठसुम् ॥ ८६ ॥
कषायो मधुरस्तिको यूकालिचाविनाशकः । उष्णो गुरुव्रणश्लेष्मकण्डूकुमिविषापहः ॥ ८७ ॥

धत्तूर के नाम तथा गुण—धत्तूर, धूर्त, धुत्तूर, उन्मत्त, कनकाह्वय (सुवर्ण वाचक सभी शब्द), देवता, कितव, तूरी, महामोही, शिवप्रिय, मातुल और मदन ये सब इसके संस्कृत नाम हैं। इसके फल को 'मातुलपुत्रक' कहते हैं। धत्तूरा—मद, वर्ण तथा वातकारक एवं जठराशिवर्धक, ज्वर-कुष्ठ-नाशक, कषाय, मधुर तथा तिक्तसयुक्त, जूरे और लीखों को दूर करने वाला, उष्णवीर्य, गुरु तथा व्रण, कफ, सुजली, कुमि एवं विष का नाशक होता है ॥ ८५-८७ ॥

३३ धत्तूरा

हि०—धत्तूर, धत्तूरा, धात्तूरा। बं०—धुतूरा, धुत्तूरा। म०—धोत्रा। गु०—धत्तूरो, धत्तूरो। पं०—धत्तूर, धत्तूरा। मल०—उन्मत्त, उन्मत्त। क०—मदकुणिके। ते०—उन्मत्त, धुत्तूरम्। ता०—उन्मत्तर्ह। फा०—तात्तूरह, तात्तूरा। अ०—त्रौजमासम, जौलुवमासेल। अं०—*Datura* (दत्तूरा,), *Thornapple* (थानपल)। Fam. Solanaceae (सोलेनेसी)।

नोट—राजनिघण्टु में इसके श्वेत, नील, कृष्ण, रक्त एवं पीत ये पाँच भेद लिखे हैं तथा उनमें से कृष्ण पुष्पवाला अधिक गुणकारी माना है। धन्वन्तरिनिघंटु एवं इसमें इसके भेदों का उल्लेख

१. सितनीलकृष्णलोहितपीतप्रसवाश्च सन्ति धत्तूराः ।

सामान्ययुगोपेतारतेषु गुणाद्वस्तु कृष्णकुसुमः स्यात् ॥

नहीं है। चरक में धुतूरा का उल्लेख नहीं है किन्तु 'कनक' का उल्लेख आया है^१। लेकिन टीकाकारों ने कनक के कई अर्थ किये हैं। सुश्रुत ने अलर्कविष में इसका उपयोग लिखा है^२। यद्यपि तमक श्वास में इसका बहुत उपयोग होता आ रहा है तथापि प्राचीनों ने इसका उल्लेख नहीं किया है।

आधुनिक विद्वानों ने भी इसके कई भेदों का वर्णन किया है। इनके गुणों में विशेष अन्तर नहीं है। पाश्चात्य चिकित्सा में स्ट्रॅमोनिअम् (राजधतूरा) का उपयोग किया जाता है, जिसके बीज काले होते हैं।

यहाँ पर कुछ भेदों का वानस्पतिक वर्णन अलग-अलग किया गया है। किन्तु गुणों में साम्य होने के कारण उनको एक साथ ही लिखा गया है।

(क) ले०—*Datura stramonium* Linn. (दतूरा स्ट्रॅमोनिअम् लिन.), *Datura tabula* Linn. (दतूरा टॅटुला लिन.), हि०—राजधतूरा।

यह हिमालय के मन्द कटिबन्ध में काश्मीर से लेकर सिक्किम तक ९००० फीट की ऊँचाई तक, मध्य भारत के पहाड़ी प्रदेश, दक्षिणी एवं अन्य प्रान्तों में भी पाया जाता है।

इसका पुष्प-एकवर्षायु तथा करीब २-४ फीट ऊँचा होता है। काण्ड-हरा या जामुनी रंग का काला होता है। पत्ते-अण्डाकार, धार पर लहरदार या गहरे विच्छेदों से युक्त, करीब ७ इञ्च लंबे, ५ इञ्च चौड़े, हल्के हरे रंग के, चिकने (कोमल पत्र-लोमयुक्त) तथा पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। इनमें उग्रगन्ध रहती है तथा इनका स्वाद कड़वा एवं अरुचिकारक होता है। पुष्प-स्वेत भूरे या कभी-कभी बैंगनी आभायुक्त, दलपत्र करीब ३-६ इञ्च लंबे तथा संख्या में ५ रहते हैं। फल-अण्डाकार, ऊर्ध्वमुख, चार खण्डों से युक्त तथा कठोर, लंबे एवं छोटे कंटकों से ढका हुआ, शीर्ष पर चार फाँक में खुलनेवाला एवं इसके आधार पर बाहर और नीचे की ओर मुड़ा हुआ स्थायी प्रवृद्ध बाह्यदल रहता है। बीज-चिपटे, वृक्काकार, करीब ३ मि० मि० लंबे, २ मि० मि० चौड़े, १ मि० मि० मोटे, काले से भूरे रंग के, खुरदरे, स्वाद में कड़वे, तैलीय एवं अत्यल्प गन्धवाले रहते हैं।

दतूरा टॅटुला के क्षुप ऊपर के समान ही होते हैं। इसके काण्ड, पर्णवृन्त एवं पत्तों की प्रधान शिराएँ कुछ लालिमा किये हुए होती हैं एवं दलपत्र ताजी अवस्था में बैंगनीपन लिये हुए नीले रंग के तथा सूखने पर बैंगनी आभायुक्त हरे रंग के होते हैं। इसके पत्ते पहले की अपेक्षा कुछ गहरे हरे रंग के होते हैं।

इनके बीज, पुष्पयुक्त अग्रभाग एवं पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। पाश्चात्य वैद्यक में इसके टिंक्चर एवं शुष्क तथा प्रवाही सत्व का उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों एवं पुष्पयुक्त अग्रभाग में क्षाराम की मात्रा ०.४७-०.६५% होती है जिसमें मुख्यतया हायोसायमीन (*Hyoscyamine*) एवं अल्पमात्रा में अट्रोपीन (*Atropine*) तथा हायोसीन (*Hyoscyne*) रहते हैं। इसके अतिरिक्त इसमें क्लोरोजेनिक एसिड (*Chlorogenic acid*) एवं गहरे रंग का उड़नशील तैल (०.०४५%) पाया जाता है।

इसके बीजों में क्षाराम की मात्रा ०.१-०.५% (औसतन ०.२%) रहती है जिसमें हायोसायमीन अधिक एवं अट्रोपीन तथा हायोसीन अल्प रहते हैं। इसमें १५-३०% स्थिर तैल भी होता है।

१. च. चि. अ. ७, अ. २३।

२. श्वेतो पुनर्नवाञ्जास्य दद्यात्तूरकायुताम्। (सु. क. अ. ७)

(ख) ले०—*Datura metel* Linn. (दतूरा मेटल् लिन.)। हि०—काला धतूरा।

यह भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में परती भूमि में पाया जाता है।

इसका पौधा-वर्षायु, ३-५ फीट ऊँचा एवं चिकना होता है। पत्ते-अंडाकार-मालाकार, कुछ लहरदार, नोकीले, पर्णवृन्त की तरफ असम, कुछ दन्तुर या खण्डित, ऊपर के दोनों पृष्ठों पर चिकने, पतले, अकेले या युग्म जिसमें से एक बड़ा (७-८ इञ्च) एक छोटा एवं प्रायः ४ इञ्च लंबे तथा ३ इञ्च चौड़े होते हैं। पुष्प-सीधे एवं ६.५-७ इञ्च लम्बे होते हैं। आभ्यन्तर दल श्वेत, प्रायः बाहर से नीललोहित एवं अन्दर से पीताम होते हैं। फल-गोलाकार, लटकते हुये, छोटे काँटों से युक्त, १ इञ्च व्यास के एवं इनका स्फुटन अनियमित होता है। बीज-कर्णाकृति, चिपटे, ४-५ मि० मि० लम्बे, ३-४ मि० मि० चौड़े एवं १ मि० मि० मोटे होते हैं। इनका किनारा लहरदार, मोटा तथा ३ धारियों से युक्त होता है। इनकी बाह्य सतह पीताम, भूरी तथा गढेदार होती है। इनमें गन्ध नहीं होती तथा इनका स्वाद कड़वा होता है।

(ग) ले०—*Datura innoxia* Miller (दतूरा इन्नॉक्सिआ मिलर)।

यह यद्यपि मेक्सिको का आदिवासी है तथापि अपने यहाँ भी अब बहुत उत्पन्न होता है।

यह (घ) के समान ही होता है किन्तु यह मृदुरोमश होता है तथा इसके आभ्यन्तर कोश १० कोणों से युक्त होते हैं। इसके फल के काँटे कमजोर होते हैं तथा बीज भूरे रङ्ग के होते हैं।

रासायनिक संगठन—(ख) एवं (ग) के पत्तों में क्षाराम की मात्रा ०.२५-०.५५% रहती है जिसमें मुख्यतया हायोसायमीन एवं अल्पमात्रा में हायोसीन रहता है।

ख—के बीजों में हायोसीन ०.२% एवं अल्पमात्रा में हायोसायमीन रहता है। इसके अतिरिक्त तैल एवं तैल भी इसमें पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—धतूरा के पत्ते एवं बीज वेदनाहर, उद्वेघननिरोधी, संशानाशक, कासहर, श्वासहर, नियतकालिकज्वरप्रतिबन्धक एवं शोथहर हैं। धतूरे की क्रिया बेल्लाडोना (*Belladonna*) की तरह होती है किन्तु श्वासनलिकाओं पर इसकी क्रिया अधिक तीव्र होने के कारण उनका अधिक विस्फार होता है। यह असीटिलकोलीन् (*Acetylcholine*) के कार्य को रोकता है जिससे श्वासनलिकाओं में रहने वाले प्राणदा (*Vagus*) नाड़ी के अग्रों का घात होने से श्वासनलिकाओं का विस्फार होता है। कभी-कभी इससे हृदय की गति में अनियमितता आती है। इससे विबन्ध नहीं होता। अधिक मात्रा में यह अत्यन्त तीव्र विष है। कुछ लोगों में यह उन्मादकारक होने के कारण उनके लिये यह वाजीकर है।

(१) तमक श्वास में उद्वेघन रोकने के लिये इसका बहुत प्रयोग किया जाता है। इसके चूर्ण का धूँआ या इसकी बनी सिगरेट का धूम्रपान इसमें लाभदायक होता है। इसका आन्तरिक प्रयोग भी किया जाता है। धूँए के लिए धतूरा को पत्ती, कलमी सोरा, काले चाय की पत्ती, लोबेलिया एवं अनीसी का तैल इनसे बना हुआ मिश्रण (पन्ध लोबेलिया कम्पाउण्ड) मिलता है जिसमें से चाय की चम्मच बराबर चूर्ण को कमरे में जलाते हैं।

(२) पारो से आने वाले शीतज्वर में इसके बीज दही के साथ ज्वर आने के पूर्व खिलाते हैं। इससे ज्वरजन्य कष्ट कम होता है।

(३) उदरशूल, पित्ताश्रमीशूल एवं वृक्कशूल आदि में वेदनाहर एवं उद्वेघननिरोधीरूप में इसका उपयोग करते हैं।

(४) शोथ पर इसके पत्तों का लेप करने से वेदना एवं शोथ कम होता है। अण्डशोथ, आमवात, सन्धिशोथ, आध्मान, फुफ्फुसावरणशोथ, नाडीशूल एवं गृध्रसी आदि में इसके पत्तों के काथ

से सेंक. पत्तों का बन्धन या इससे सिद्ध तैल की मालिश की जाती है। इसके पत्तों के स्वरस का भी उपयोग किया जाता है। शोथयुक्त अर्श तथा गुदविदार में इसका मलहम उपयोगी है। अनेक चर्मरोगों में तथा वातिकविकारों में इससे सिद्ध तैल का उपयोग किया जाता है। स्तनशोथ पर हरिद्रा के साथ इसका पोल्सिस बॉन्धने से शोथ एवं दुग्ध कम होता है।

(५) उन्माद, धनुर्वात एवं जलसंज्ञास आदि में इसका प्रयोग करते हैं।

शोधन—इसके बीजों को दुग्ध से साथ दोलायन्त्र में शोधन कर लेना आवश्यक है।

विषपरिणाम—इसके बीजों को ठग लोग दूसरों को बेदोश कर लूटने के लिये अन्नादि के साथ मिलाकर खिला दिया करते हैं या इसकी सिगरेट आदि पिखा देते हैं। इससे गले में शुष्कता, चकर, चेहरा लाल, आँखों की पुतलियों का विकास, उन्माद, प्रश्रप, एवं संन्यास ये लक्षण होकर मृत्यु हो सकती है। उन्माद में रोगी कार्पनिक वस्तुओं को पकड़ने जैसी क्रियाएँ करने लगता है।

विषचिकित्सा—वमन, आमाशयप्रक्षालन, उत्तेजक औषधियों का प्रयोग, शीतल जल से छाँटा देना एवं कृत्रिम श्वसन करना चाहिये। प्रलाप अधिक होने पर अफीम का उपयोग किया जा सकता है। शर्करा मिश्रित दुग्ध तथा घृत पिखाना भी हितकर है। विनोले की गरी को दुग्ध के साथ पीसकर पिखते हैं। कपास के पंचांग का काथ, चौलाई की जड़, गिलोय, दही, नीबू का रस इनका उपयोग भी किया जाता है।

पाश्चात्य वैद्यक के फाइसोस्टिग्मीन् या पाइलोकॉपीन् नाइट्रेट (३-३ ग्रेन) इनका प्रयोग बहुत सावधानीपूर्वक किया जा सकता है।

मात्रा—बीजचूर्ण ३-१ रत्ती; पत्रचूर्ण ३-१ रत्ती; धूत्रपान के लिये पत्रचूर्ण ५-१५ रत्ती; बीज का टिंक्चर (४ में १) ५-१५ बूँद (५ बूँद से प्रारम्भ करें); टिंक्चर स्ट्रॉमोनिअम् ५-३० बूँद।

अथाटरुषः [अडूसा] । तस्य नामानि गुणांश्चह

वासको वासिका वासा भिषङ्माता च सिद्धिका । सिंहास्यो वाजिदन्ता ह्यादाटरुषोऽटरुषकः ॥ अटरुषो वृषस्ताम्रः सिंहपर्णश्च स स्मृतः । वासको वातकृत्स्वर्यः कफपित्तासनाशनः ॥ ८९ ॥ तिक्तस्तुवरको हृद्यो लघुशीतस्तुडर्तिहृत् । श्वासकासज्वरच्छर्दिमेहकुष्ठचयापहः ॥ ९० ॥

अडूसा के नाम तथा गुण—वासक, वासिका, वासा, भिषङ्माता, सिद्धिका, सिंहास्य, वाजिदन्ता, आटरुष, अटरुषक, अटरुष, वृष, ताम्र और सिंहपर्ण ये सब संस्कृत नाम अडूसा के हैं। अडूसा—वातकारक, स्वर उत्तम करनेवाला, तिक्त तथा कषाय-रसयुक्त, हृदय को हितकर, लघु और शीतवीर्य होता है। यह—रूप, पित्त, रक्तकोप (या रक्तपित्त), तृणा, श्वास, खाँसी, ज्वर, वमन, प्रमेह, कुष्ठ एवं क्षय को दूर करता है ॥ ८८-९० ॥

नोट—प्रानीन ग्रन्थों में अडूसा एक ही प्रकार का लिखा है। श्री डॉ. देसाई ने अडूसा, अथाटोडा वासिका (*Adhatoda vasica*) के अतिरिक्त एक श्वेत (रक्तपुष्प) अडूसा, जस्टिसिया पिक्टा (*Justicia picta*) एवं अन्य काला अडूसा (नील निर्गुण्डी), जस्टिसिया जेण्डारुसा (*Justicia gendarussa*) इनका वर्णन किया है। केरल देश में अडूसा का अन्य छोटा भेद अथाटोडा बेड्डोमी सी. बी. क्ल. (*Adhatoda beddomei* C. B. Clarke) का अधिक व्यवहार किया जाता है क्योंकि वह अधिक गुणकारी होता है ऐसा कोट्टयम से प्रकाशित 'आयुर्वेदिक फ्लोरा मेडिका' में लिखा हुआ है। उसके पुष्प बिलकुल श्वेत होते हैं।

३४ अडूसा

हि०—अडूसा, अडूस, अरुस, वाकस, विसोटा, रूसा, अरुशा । बं०—वासक, वाकस । म०—अडूलसा । मा०—अडूसो । गु०—अरडूसो (सी) । क०—आडूसो । ते०—आवा सार, अडूसरमु । मल०—वलय आटलोटकम् । ता० अटतोटे । पं०—मेकर । फा०—वाँस, खवाजा । अ० हशीशतु-स्सुआल । अं०—Malabar nut (मलाबारनट) । ले०—*Adhatoda vasica*, Nees. (अथाटोडा वासिका नीज) Fam. Acanthaceae (एकैन्थेसी) ।

यह भारतवर्ष के प्रायः सब प्रांतों में एवं हिमालय के निचले भागों में ४००० फीट की ऊँचाई तक उत्पन्न होता है।

इसका पुष्प—सदाहरित, झाड़ीदार, दुर्गन्धयुक्त, ३-८ फीट ऊँचा एवं प्रायः समूहबद्ध होकर उगता है। काण्ड की गाँठें फूली हुई रहती हैं। पत्ते—५-८ इंच लम्बे, ११-२१ इंच चौड़े, भालाकार या अण्डाकार, दोनों सिरों पर नोकीले, अखण्ड, अत्यन्त सूक्ष्म मृदुरोमश, विशेषकर नये पत्ते एवं ३-२ इंच लम्बे पणवृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प—श्वेत, विनाल, द्वयोष्ठी एवं १-३ इंच लम्बे होते हैं तथा १-३ इंच लम्बी मञ्जरियों में पाये जाते हैं जो उपशाखाओं के अग्र पर प्रायः समूहबद्ध रहती हैं। पुष्पों पर २ टेढ़ी बैगनी धारियाँ होती हैं। इसमें बड़े बड़े कोणपुष्पक और श्वेतपत्र भी रहते हैं। फली—पीन इंच लम्बी, तिहारई इंच चौड़ी, मुद्राकार, लम्बाई में धारीदार मृदुरोमश एवं ४ छोटे बीजों से युक्त होती है। इसके पत्तों से एक प्रकार का पीला रंग निकलता है। इसके पत्र, पुष्प एवं मूलत्वक् का व्यवहार चिकित्सा में किया जाता है। मूलत्वक् पुराने क्षुप की लेनी चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में एक कडुवा रवेदार क्षाराम वॅसिसिन (*Vasicine*, $C_{11}H_{12}N_2O$) करीब २५%, अथाटोडिक एसिड, उद्वनशील तैल, वसा, राल, शर्करा, गोंद एवं पीत रंजक द्रव्य ये पाये जाते हैं। मूलत्वक् में भी क्षाराम की करीब इतनी ही मात्रा होती है। यह क्षाराम मद्यसार में घुलनशील, शीत जल में अल्प एवं उष्ण जल में अधिक घुलनशील होता है। यह क्षाराम हरमल (*Pegauum harmala*) में पाये जाने वाले पेगनीन (*Peganine*) के सदृश होता है।

गुण और प्रयोग—अडूसा उत्तेजक, कफनिःसारक, शीतवीर्य, उद्वेहननिरोधी, स्वर्य, कृमिघ्न, कुष्ठहर, रक्तपित्तघ्न, श्वासहर, कासहर एवं क्षयघ्न है। इसके पुष्प तिक्त, कटु, ज्वरघ्न, मूत्रजनन, उद्वेहननिरोधी एवं शीतल हैं। इसकी मूलत्वक् ज्वरघ्न, मूत्रजनन, कफनिःसारक, नियतकालिक-ज्वरहर, कृमिघ्न एवं कोथप्रशमन है। उद्वेहननिरोधी गुण मूल एवं पत्र की अपेक्षा पुष्पों में एवं कफनिःसारक गुण पत्तों की अपेक्षा मूल में अधिक रहता है। पत्र स्वेदजनन है। इसका प्रधान गुण कफ को पतला करना एवं आसानी से बाहर निकालना है। अधिक मात्रा में इससे वमन एवं विरेचन होता है।

इसमें के क्षाराम वासिसिन को जानवरों में शिरान्तर्गत सूचिकामरण से देखा गया कि रक्त-संवहन एवं महास्रोत पर इसका कोई प्रभाव नहीं होता। इससे श्वासनलिकाओं में अल्प किन्तु स्थायी विस्फार होता है जो अँट्रोपीन साथ में देने से अधिक हो जाता है। इसमें का कफनिःसारक गुण सम्भवतः मुख्यतया इसमें के उद्वनशील तैल के कारण है।

इसके पत्ते निम्न श्रेणी के जलाश्रयी जीव, जुरा, पराश्रयी जीवाणु, मच्छर, मक्खी एवं गोबर आदि के लिये विषैले माने जाते हैं।

(१) कफविकारों में इसका बहुत प्रयोग करते हैं। नवीन श्वसनीशोथ में इससे आराम मिलता है विशेषकर जब कफ गाढा तथा चिपचिपा होता है। जीर्ण श्वसनीशोथ में इससे खाँसी में आराम मिलता है तथा कफ ढीला होकर आसानी से बाहर निकल जाता है। कफयुक्त प्रलेपक ज्वर में इसका बहुत उपयोग करते हैं। इनमें इसके पुटगक करके निकाले स्वरस को ३-१३ तो० की मात्रा में आर्द्रकस्वरस या छोटी पीपल, कुछ सैधव एवं मधु के साथ देते हैं। श्वास, कास एवं रक्तपित्त में अडूसा, द्राक्षा एवं हर्षा इनका काथ मधु एवं शर्करा के साथ उपयोगी है। नये श्वसनीशोथ में कण्टकारी, जवासा, नागरमोथा, सीठ एवं अडूसा इनका काथ उपयोगी है। बच्चों के कफविकारों में इसके स्वरस के साथ टंकण देते हैं। वासावलेह का भी अच्छा उपयोग होता है।

(२) राजयक्ष्मा में हाथ-पैर आदि में जलन, ज्वर एवं लघ्वर्ण रक्तपित्त होने पर वासावृत्त (च. चि. अ. ८) का उपयोग किया जाता है। इसमें पत्रस्वरस, वंशलोचन, तालीसपत्र, कोहड़े का रस एवं मधु भी दिया जाता है। नवीन प्रयोगों से देखा गया है कि राजयक्ष्मा में इसका कोई प्रभाव नहीं है। केवल इससे वातनाडियों पर शामक प्रभाव के कारण एवं कफ के पतल होने से खाँसी में आराम मिलता है।

(३) तमकश्वास में इसके पत्तों का धूम्रपान लाभदायक है। इसके साथ धतूरे के पत्र का उपयोग करने से जल्दी गुण होता है। इसका आंतरिक प्रयोग भी किया जाता है। इससे सिद्ध घृत का प्रयोग करते हैं। यह तमकश्वास के आवेग को बन्द करने में समर्थ नहीं है।

(४) रक्तपित्त में इसका स्वरस मधु के साथ देते हैं। इसके फूलों के गुल्कंद तथा पत्रचूर्ण का भी उपयोग किया जाता है। वासावृत्त (च. चि. अ. ४) मधु के साथ सेवन करने से रक्तपित्त जल्दी रुकता है।

(५) मलेरिया में इसके पत्तों के चूर्ण या मूलत्वकचूर्ण का उपयोग करते हैं।

(६) आध्मान, अतिसार एवं प्रवाहिका में इसका स्वरस दिया जाता है। इससे आंत्रस्थ जीवाणुओं का नाश होता है एवं अन्न का सड़न रुकता है।

(७) आमवातिक संथिशोथ, शोथ एवं नाडीशूल आदि में पत्तों का पोल्डिस लगाया जाता है।

(८) त्वचा के रोगों में इसका रस पिलाते हैं तथा इसके पत्तों का लेप एवं काथ से स्नान आदि कराते हैं।

(९) जंतुघ्न होने के कारण इसके पत्तों को जल में रखने पर जल खराब नहीं होता। इसके पत्तों में फल बांध कर रखने से फल सड़ता नहीं। इसका मधुसारीय अर्क मक्खी, पिस्तू एवं मच्छर आदि के लिये घातक होता है। खेत में इसके पत्तों का खाद देने से इनमें रोग नहीं होते। ऊनी कपड़ों में इसके पत्ते रखने से कीड़े नहीं लगते।

मात्रा—पत्रचूर्ण १-२ माशा, स्वरस ३-१३ तोला, मूलत्वक ४ र०-१ माशा, पुष्प ५-१० र० काथ १-२ तो०।

३५ रक्तपुष्प अडूसा

ले०—*Justicia picta* Linn. (जस्टिसिआ पिक्टा लिन)। Fam. Acanthaceae (एकॅन्थेसी)।

यह बागों में लगाया हुआ मिलता है। इसके क्षुप बड़े होते हैं। इसके पत्ते दीर्घवृत्ताकार, ३-८ इंच बड़े, गहरे हरे रंग के एवं इन पर सफेद छींटे रहते हैं। इसके काण्ड की गाँठें फूली हुई और रक्तम होती हैं। इसमें गहरे लाल वर्ण के पुष्प आते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके गुण अडूसा के समान ही होते हैं किन्तु इसमें स्नेहन एवं शोथघ्न ये गुण अधिक हैं। बच्चों के गले में जब कफ से धुरधुराहट होती है तब इसके पत्तों का पुटपाक करके निकाला स्वरस एवं टंकणद्वारा देते हैं। इसको मधु एवं छोटी पीपल के साथ भी दिया जाता है। दुग्ध के कारण स्तन में शोथ होने पर या अन्य स्थान में शोथ होने पर इसके पत्तों को नारियल के रस में पीसकर बांधने से सूजन कम होती है।

मात्रा—बच्चों में १०-२० बूँद स्वरस मधु एवं छोटी पीपल के साथ।

३६ काला अडूसा

सं०—नीलनिगुण्डी ? हिं०—काला अडूसा, नील निगुण्डी। वं०—जगतमदन, मामलक। म०—काला अडूसा, कालीशंबाल। बंब०—वाकस। ता०, मल०—करुचोचि। ते०—नल्लोचिलि। ले०—*Justicia gendarussa* Burm. (जस्टिसिआ जेन्डारुसा बर्म)। Fam. Acanthaceae (एकॅन्थेसी)।

इसके क्षुप बागों में रास्ते के किनारों पर लगाये जाते हैं।

इसके क्षुप-२-४ फीट ऊँचे होते हैं। काण्ड—कभी कभी धारीदार होते हैं। पत्ते-२-५ इंच लम्बे, प्रासवत् या रेखाकार प्रासवत्, चिकने एवं ३ इंच लम्बे पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प-बरसात में श्वेतवर्ण के पुष्प अवृन्त काण्डज क्रम में निकले रहते हैं। पुष्पों के अन्दर 'जामुनी' रंग के चिह्न रहते हैं। बीजकोष ३ इंच, सूक्ष्म, लोमयुक्त तथा ४ बीजों से युक्त होता है। इसके पत्तों में मनोहर गन्ध आती है। इसके पत्तों का स्वरस चिकित्सा में उपयोग में लाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह उष्ण, ज्वरघ्न, कफनिःसारक, वामक एवं रेचन है। यह वनस्पति अत्यन्त तीव्र होती है इसलिये बाल एवं वृद्ध में इसका उपयोग नहीं करना चाहिये। इससे वमन एवं विरेचन होने लगता है। इसके प्रयोग के समय चावल की माँड़ घृत डालकर देनी चाहिये।

(१) फुफ्फुस के विकारों में इसका प्रयोग करते हैं। तीव्र कफविकारों में इसके २-४ पत्ते एवं अपामार्ग की राख ३ तो०, एक तोला मधु के साथ देते हैं। न्युमोनिया (Pneumonia) में चार पत्तों का रस, सडेजन की छाल का रस एवं सायुद्र नमक मधु के साथ देते हैं।

(२) ज्वर एवं आमवात में इससे पसीना निकलता है। आमवात में इसके पत्तों के काथ से सेकने से आराम मिलता है।

(३) इसका रस सरसों के तेल के साथ पिलाने से वमन होता है।

(४) इसके रस को तैल में मिलाकर गाँठों पर लगाया जाता है।

अथ पर्पटः [पित्तपापडा] । तस्य नामानि गुणांश्चाह

पर्पटो वरतित्कश्च स्मृतः पर्पटकश्च सः । कथितः पांशुपर्यायस्तथा कवचनामकः ॥ ९१ ॥

पर्पटो हन्ति पित्ताज्ज्वरमवृष्णाकफज्वरान् । संग्राही शीतलस्तिक्तो दाहनुद्घातलो लघुः ॥ ९२ ॥

पित्तपापडा के नाम तथा गुण—पर्पट, वरतित्त, पर्पटक, पांशुपर्याय ('पांशु' वाचक सभी शब्द इसके पर्यायवाची हैं) एवं कवचनामक ('कवच'वाची सभी शब्द इसके पर्यायवाचक हैं) ये सब संस्कृत नाम 'पित्तपापडा' के हैं। पित्तपापडा—संग्राही, शीतवीर्य, तिक्तसयुक्त, दाह को दूर करने वाला, वातकारक और लघु होता है एवं यह पित्त, रक्तदोष, अमरोग, वृषा, कफ और ज्वर इन सबों को नष्ट करता है ॥ ९१-९२ ॥

नोट—पित्तपापड़ा के नाम से विभिन्न प्रान्तों में मिन-मिन्न वर्गों की वनस्पतियों का एवं उनके उपभेदों का उपयोग किया जाता है इस कारण इसके लेटिन नामों में पर्याप्त विभिन्नता पाई जाती है। जिन द्रव्यों का प्रयोग किया जाता है उनमें उपर्युक्त शाक्रीय गुणों में से कुछ न कुछ पाये जाते हैं। अन्य निघण्टुओं में भी उपर्युक्त प्रकार के ही गुण लिखे हैं। चरक में तृष्णानिग्रहण गण में इसका पाठ है एवं रक्तपित्त, ज्वर, कुष्ठ, संग्रहणी, पांडु एवं अतिसार आदि में इसका उपयोग किया गया है।

विभिन्न ग्रन्थों में निम्नलिखित विभिन्न वनस्पतियों का पर्पट नाम से उल्लेख है :—

(१) Oldenlandia corymbosa, Linn. Fam. ; Rubiaceae (ओल्डेन्लेण्डिया कोरिम्बोसा, लिन. रुबिएसी), बं०—खेतपापड़ा ।

इसका बंगाल में अधिक व्यवहार किया जाता है। श्रीयुत यादवजी ने अपनी पुस्तक में जो नव्य मत दिया है उसे श्री डॉ० देसाई ने हसी वर्ग के हेडियोटिस बाइफ्लोरा (*Hedyotis biflora*) के अन्तर्गत किया है। लेकिन डॉ० देसाई ने इसका बंगाली नाम खेतपापड़ा ही लिखा है। श्री डॉ० चोप्रा ने खेतपापड़ा का नाम ओ० बाइफ्लोरा, लिन. (*O. biflora*, Linn.) लिखा है। श्री बापालालजी की पुस्तक में हे० बर्मानियाना (*H. burmanniana*) का भी उल्लेख है। इन उपर्युक्त नामों से ऐसा मालूम होता है कि ये या तो एक दूसरे के पर्याय हों या एक ही वनस्पति के उपभेदों में से हों।

(२) *Fumaria indica*, Pugsley; Fam. Fumariaceae (फ्युमेरिया इण्डिका, पगस्ले, फ्युमेरिएसी), हिं-शाहतराभेद—यह शाहतरा, फ्यु० ऑफिसिनैलिस् (*Fumaria officinalis*) का भेद है। इन दोनों का व्यवहार पंजाब, सिंध, राजपुताना, उत्तरप्रदेश और बिहार के वैद्य पर्पट नाम से करते हैं ऐसा श्री यादवजी ने लिखा है।

(३) *Polycarpea corymbosa*, Lam. ; Fam. Caryophyllaceae (पॉलिकार्पीआ कोरिम्बोसा, लॅम्, कॅरियोफाइलेसी)। श्री डा० बलवन्तसिंहजी लिखते हैं कि उत्तरप्रदेश में अनेक स्थानों पर पर्पट के नाम से इसका व्यवहार किया जाता है।

(४) (क) *Justicia procumbens*, Linn. ; Fam. Acanthaceae (जस्टिसिआ प्रोकम्बेन्स, लिन, एकेन्थेसी)। बम्ब०—घांटी पित्तपापड़ा। इसे श्री डा. चोप्रा ने नं० २ का प्रतिनिधि लिखा है। कुछ लोगों ने ज. डिफ्यूजा विल्ड (*J. diffusa* Wild) को घांटी पित्तपापड़ा माना है।

(ख) *Rungia repens*, Nees. ; Fam. Acanthaceae (रंजिआ रिपेन्स, नीज; एकेन्थेसी)। श्री यादवजी ने लिखा है कि गुजरात के वैद्य 'खडसलियो' नाम से इसका व्यवहार करते हैं। श्री बापालालजी ने नं० ४ (क) को 'खडसलीयो पीतपापड़ा' लिखा है।

(ग) *Rungia parviflora*, Nees. (रंजिआ पार्विफ्लोरा, नीज.)—इसका भी 'खडसलीयो' नाम से व्यवहार किया जाता है।

(घ) *Peristrophe bicalyculata*, Nees. ; Fam. Acanthaceae (पेरिस्ट्रोफ बाइकैलिकुलेटा, नीज. एकेन्थेसी)। श्री डा० सखाराम अर्जुन ने 'बाम्बेडून्स' पुस्तक में इसका 'घांटीपित्तपापड़ा, नाम से उल्लेख किया है। इसका विशेष वर्णन आगे काकजंघा के अन्तर्गत किया गया है।

(५) *Glossocardia linearifolia*, Cass. ; Fam. Compositae (ग्लोसोकार्डिआ लिनि-एरिफोलिआ, कैस; कॉम्पोझिटी)। श्री डा० देसाई ने इसका 'पूना' का नाम पित्तपापड़ा दिया है तथा अन्य प्रान्तों में भी कहीं-कहीं इसका पित्तपापड़ा के स्थान पर व्यवहार किया जाता है।

(६) *Mollugo stricta*, Linn. ; Fam. Ficoidaceae (मोल्युगो स्ट्रिक्टा, लिन.; फिकोइडीसी)। श्री डॉ० देसाई ने इसका संस्कृत नाम 'पर्पटका' लिखा है।

३७ पर्पट (१)

सं०—क्षेत्रपर्पट, पर्पट। हिं०—दमनपापड़ा। बं०—खेतपापड़ा। म०—परिपाठ, पापटी। गु०—परपट। ता०—पर्पदागम। ते०—वेरिनेछावेमु। गोआ—पोपटी, कझुरी। ले०—*Oldenlandia corymbosa* Linn. (ओल्डेन्लेण्डिया कोरिम्बोसा लिन.); Fam. Rubiaceae (रुबिएसी)। यह भारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में ६००० फीट की ऊँचाई तक होता है। इसके छुप गीले स्थानों एवं सूखे धान के खेतों में पाये जाते हैं।

इसका छुप-वर्षायु, ३-२५ इंच ऊँचा, अनेक शाखाओंवाला, प्रसरणशील, प्रायः चिकना या कभी-कभी मुद्दुरोमश होता है। पत्ते—रेखाकार, रेखाकार-मालाकार या पतले लम्बे परन्तु अण्डाकार प्रासवत् एवं ५-२ इंच लम्बे होते हैं। पुष्प—सूक्ष्म, प्रायः दो-दो एक साथ और सफेद होते हैं। फली—गोलाकार एवं चिकनी होती है। बीज—हलके भूरे रंग के एवं कोणयुक्त होते हैं। इसके तथा इसके अन्य उपभेदों के ताजे अथवा सुखाये हुये पौधे का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। बंगाल के वैद्य पर्पट के नाम से इसका प्रयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पंचांग में दो समान प्रकार के क्षाराम बाइफ्लोरीन एवं बाइफ्लोरोन (*Biflorine* and *Biflorone*) तथा एक रंजित इव्य ये पदार्थ पाये जाते हैं। क्षाराम को मात्रा शुष्क पौधे के वजन के अनुपात में ०.१२% तक रहती है। इसकी राख में सोडियम, पोटेशियम एवं कैल्शियम के क्षार विशेषकर क्लोराइड पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग—खेतपापड़ा, शीतल, ज्वरघ्न, दाहशामक, कफघ्न, तिक्तपौष्टिक एवं अल्प स्तम्भन है। इसका उपयोग ज्वर, यकृतविकार, कामला एवं कृमि में किया जाता है।

(१) पित्त तथा वातप्रधान ज्वर में इसका बहुत उपयोग किया जाता है। अर्धविसर्गों ज्वर एवं जीर्ण मलेरिया में इसका काथ दिया जाता है। इससे शरीर का दाह, तृष्णा, आमामाशयिक प्रक्षोभ, भ्रम एवं सुस्ती आदि दूर होती है तथा पसीना एवं पेशाब अधिक होती है। पित्तज्वर में इसके साथ 'शाहतराभेद' का उपयोग करते हैं। सन्ततज्वर में बमन, विरेचन, भ्रम एवं शरीर में शिथिलता आदि लक्षण होने पर इसके साथ हंसराज, ब्राह्मी, चन्दन, खस, नागरमोथा, गुडुच एवं हरी चाय का काथ बनाकर पिलाते हैं। खेतपापड़ा, गुडुच, नागरमोथा, चिरायता एवं षोडशच इनका पंचमद्र नामक काथ सब प्रकार के ज्वरों में दिया जाता है। दाहशान्ति के लिये चन्दन एवं इसका लेप किया जाता है। इसके स्वरस को हाथ-पैर की जलन में लगाते हैं।

(२) क्षेत्रपर्पट, रोमान्तिका (*Measles*) के लिए बिल्कुल निश्चित औषध मानी जाती है।

(३) गले एवं श्वासनलिका की सूजन में इसके धूत्रपान से कफ ढीला होकर शीघ्र गिरने लगता है। तमकधास में छोटी पीपल, मुलेठी एवं क्षेत्रपर्पट मधु के साथ देते हैं तथा इससे थोड़ा धूत्रपान भी करते हैं।

मात्रा—२ से ८ माशा।

३८ पर्पट (२)

हिं०—शाहतराभेद, पित्तपापड़ा, धमगजरा। बं०—बनशुष्क। म०—पित्तपापड़ा, शातरा। गु०—पित्तपापड़ा। ता०—तुरा। ते०—चाटराशि। अ०—शाहतरज। फा०—शाहतर। ले०—*Fumaria indica* Pugsley (फ्युमेरिया इण्डिका, पगस्ले); Fam. Fumariaceae (फ्युमेरिएसी)।

यह पंजाब, दिल्ली, चित्तौड़ एवं खानदेश तथा अन्य सभी प्रान्तों में गेहूँ के खेतों में जाड़े के दिनों में पाया जाता है।

इसका छुप-छुप (छुद्र वनस्पति) अनेक शाखाओं वाला स्वावलम्बी या प्रसरणशील एवं ३-१ फुट ऊँचा होता है। पत्ते-गाजर के पत्ते के समान बड़े विभक्त होते हैं। पुष्प-स्वेताम या गुलाबीलाल, सिरे पर जामुनी रंग के और २-३ इंच लम्बे होते हैं। पुष्प के बाह्यदल दो, आन्तरिक दल २-२, और इनमें बाहरवाले नीचे की ओर चोचदार, भीतर के दोनों ऊपर की ओर संयुक्त, पुंकेसर ६, तीन-तीन एक साथ मिले हुए रहते हैं। फल-गोलाकार और बीज छोटे होते हैं। इसके पंचांग का उपयोग किया जाता है। शाहतरा-नामक फारस से आने वाला द्रव्य इसी की दूसरी जाति फ्युम ऑफिसिनैलिस् लिन (*F. officinalis* Linn.) से प्राप्त होता है। यह स्वाद में कड़ुआ, कुछ तीता एवं कषाय रहता है। भारतीय की अपेक्षा फारसी शाहतरा अधिक गुणकारी होता है तथा उसी का अधिक प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—शाहतरा में फ्युमैरिक अॅसिड (Fumaric acid) एवं फ्युमेरिन (Fumarine) नामक एक क्षाराम रहता है। क्षाराम की मात्रा ६% तक रहती है जिस पर इसके गुण निर्भर हैं।

गुण और प्रयोग—शाहतरा स्वेदजनन, मूत्रल, संसन एवं तिक्तपौष्टिक है। इसकी क्रिया 'पित्तपित्तपापडा' के समान होती है किन्तु उससे यह अधिक लाभदायक है।

इसके पंचांग के काथ का उपयोग ज्वर, प्रतिश्याय, रक्तविकार, गंडमाला, राजयक्ष्मा दण्डाणुजन्य त्वचा के विकार, यकृतपीडा, कुष्ठ, उपदंश एवं अन्य त्वचा के विकारों में किया जाता है। कफज्वर में गोल मिरिच के साथ इसका काथ देते हैं। पित्तज्वर में इसका काथ बहुत ही लाभदायक है। प्रतिश्याय आदि में इसका बहुत व्यवहार करते हैं। इससे पसीना होता है, पेशाब अधिक होता है शरीरपीडा कम होती है एवं पाखाना साफ होता है। इसके लिये २३ तोला शाहतरा, बनफशाह ३ तोला, मिरिच एवं सोंठ ३ तोला, मुनक्का १ तोला एवं जल १ मेर इनका चतुर्थीश काथ बनाकर ५ तोला दिन में ३-४ बार देते हैं। आंत्रशैथिल्य से उत्पन्न कुपचन में शाहतरा लाभदायक है।

मात्रा—काथ २३ से ५ तोला; चूर्ण २ से ७ माशा।

३२ पर्पट (३)

हिं०—पित्तपापडा प्रतिनिधि। गु०—हीणा पाननो ओखराड। ता०—निलैसेदचि। ले०—*Polycarpea corymbosa* Lam. (पॉलिकार्पिआ कोरिम्बोसा लॅम्)। Fam. Caryophyllaceae (कॅरियोफाइलेसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है। उत्तरप्रदेश में पूर्वी जिलों में कार-कार्तिक महीने में प्रायः बाजरे के खेतों में इसके पौधे उगे हुए मिलते हैं और ग्रामीण पित्तप्रकोप की शान्ति के लिये इसका पित्तपापडा के नाम से व्यवहार करते हैं। उत्तरप्रदेश में अनेक स्थानों पर पर्पट के नाम से इसका व्यवहार किया जाता है। छोटा नागपुर तथा सोन के आसपास पथरीली एवं बलुई जमीन में यह पाया जाता है।

इसका छुप-अनेक शाखाओं से युक्त ३-६ इंच ऊँचा एवं कभी १२ इंच ऊँचा होता है। शाखाएँ-अत्यन्त कृश, तुलरोमश और सीधी होती हैं। पत्ते-रेखाकार और अभिमुख होते हैं। पुष्प-रजतवर्ण, बहुत छोटे तथा शीर्षस्थ सघन द्विविभक्त मंजरियों में आते हैं। बाह्यदल भूरे और फल बन जाने पर चमकीले या रजतवर्ण और आन्तरिक दल सूक्ष्म एवं रक्तवर्ण के होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसमें साबुनसत्त्व पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसका उपयोग सर्पादि के दंश में विषनिवारण के लिये बाह्यमन्तर करते हैं। इसके पत्तों को पीसकर, त्रण, त्रणशोध एवं फोड़े आदि पर बाँधते हैं। इसके पत्तों का स्वरस राव के साथ कामला में पिलाया जाता है।

मात्रा—१-३ माशा।

४० पर्पट (४)

म०—वाटी पित्तपापडा। ता०—नेरिपुट्टी। ले०—*Justicia procumbens* Linn. (जस्टि-सिआ प्रोकम्बेन्स लिन.)। Fam. Acanthaceae (एकॅन्थेसी)।

यह दक्षिण में बरसात के दिनों में अधिक होता है।

इसका छुप-करीब ९-१० इंच ऊँचा होता है। इसके पत्ते-३-२ ३ इंच लम्बे, ३-३ इंच चौड़े तथा सूक्ष्मरोमावृत होते हैं। फूल-छोटे तथा इलके जामुनी रंग के होते हैं। पुष्पित होने पर इनको उखाड़ कर सुखाकर रखना चाहिये। इसकी गंध हृष्टासकारक होती है। इसी वर्ग के अन्य क्षुपों का भी पर्पट नाम से कहीं-कहीं व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसमें एक कड़ुआ क्षाराम पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह मूत्रल, मृदुविरंचक एवं स्वेदकारक है। कड़ुप पदार्थों के साथ इसका काथ पित्तज्वर में देने से पसीना होता है, दाह कम होता है, पेशाब अधिक होता है एवं एक दो पाखाना होकर यकृतशोध एवं यकृतपीडा कम होती है। नेत्राम्बिण्यन्द में इसके पत्रस्वरस को डालने से लाभ होता है। इसका शाहतरा के स्थान पर प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—१-३ माशा।

J. diffusa Willd. (ज. डिफ्यूजा विल्ड.) के मूल का उपयोग मुंडा जाति के लोग पागल-पन में करते हैं। यह रांची, सरकार तथा डेक्कन में होता है।

४१ पर्पट (५)

हिं०—सेरी, दातरीसा। बम्ब०—फत्तरमुबा। पूना—पित्तपापडा। ले०—परपलकम्। ले०—*Glossocardia linearifolia* Cass. (ग्लोसोकार्डिआ लिनियरिफोलिआ कैस्.)। Fam. Compositae (कॉम्पोझिटो)।

यह मध्यभारत, दक्षिण तथा अन्य प्रान्तों में प्रायः चट्टानों के ऊपर पाया जाता है।

इसका छुप-छोटा, सुन्दर, गंधयुक्त, १-६ इंच या कभी-कभी १० इंच तक ऊँचा, चिकना तथा अनेक शाखाओं वाला होता है। पत्ते-२-२ वार पक्षवत्-खण्डित, एकान्तर और खण्ड रेखाकार होते हैं। पुष्प-छोटे तथा पीले रंग के मुण्डकों (Capitulum) में आते हैं। प्रान्तीय जिह्वाकार पुष्प, स्त्रीपुष्प और प्रायः अकेला रहता है। केन्द्रीय पुष्प उभयलिंग, संख्या में कम और नालाकार होते हैं। अधःपत्रावलि (Involucre) के पत्र बाहर की ओर प्रायः संख्या में तीन और छोटे तथा भीतर के आयताकार, बड़े और धार पर झिल्ली सदृश होते हैं। इसका स्वाद कड़ुआ एवं गन्ध साधारण सोवा जैसी होती है। इसके पंचांग का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके मूल में उड़नशील तैल तथा पत्र, पुष्प एवं काण्ड में एक क्षाराम पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—यह स्वेदजनन, ज्वरघ्न एवं गर्भाशयसंकोचक है। इसके गुण पित्तपापड़ा जैसे ही होते हैं किन्तु इसकी क्रिया यकृत की अपेक्षा गर्भाशय पर अधिक होती है। इसका काथ अन्य सुगंधि पदार्थों के साथ अनातर्व एवं पीडितातर्व में दिया जाता है। दाँतों से रक्तस्राव होने पर या दन्तकृमि में इसका उपयोग किया जाता है।

मात्रा—१-३ माशा।

४२ पर्पट (६)

सं०-पर्पटका। हिं०-तपशाह। बं०-जोलपम। बम्ब०-खरस। ले०-*Mollugo stricta* Linn. (मोल्युगो स्ट्रिक्टा लिन.)। Fam. Ficoidaceae (फिकोइडिसी)।

यह प्रायः सब जगह ऊसर या जोताळ भूमि में होता है।

इसका छुप- (छुद्र वनस्पति) ३-१० इंच ऊँचा होता है। शाखायें-अनेक, पतली, नालीदार या कोणयुक्त होती हैं। पत्ते-अभिमुख या चक्राभास क्रम में निकले हुये, ५-१.७ इंच लम्बे तथा प्रायः मांसल होते हैं। पुष्प-सूक्ष्म, हरित या श्वेत होते हैं। फल-आयतकार और तीन पक्षवाला होता है। इसका स्वाद कड़वा होता है। इसका साग बनाकर खाते हैं।

गुण और प्रयोग—यह दोषन, आनुशोमिक, विषमज्वरहर एवं आतर्वजनन है। प्रसूता को इसकी साग खिलाई जाती है। इससे भूख बढ़ती है, पाखाना साफ होता है तथा आतर्वशुद्धि होती है। विषमज्वर में भी इसे खिलाते हैं।

अथ निम्बः । तस्य नामानि गुणाँश्चाह

निम्बः स्यात्पिचुमदंश्च पिचुमन्दश्च तित्तकः । अरिष्टः पारिभद्रश्च हिङ्गुनिर्यास इत्यपि ॥९३॥
निम्बः शीतो लघुग्राही कटुपाकोऽग्निवातनुत् ।

अह्वयः श्रमवृत्तासाज्वराहरश्चिकृमिप्रणुत् । अणपित्तकफक्षुर्दिकुष्ठहृत्सासमेहनुत् ॥ ९४ ॥

नीम के नाम तथा गुण—निम्ब, पिचुमद, पिचुमन्द, तित्तक, अरिष्ट, पारिभद्र और हिङ्गुनिर्यास ये सब संस्कृत नाम 'नीम' के हैं। नीम-शीतवीर्य, लघु, ग्राही, पाक में कटुरसयुक्त, जठराग्नि को मन्द करनेवाला, हृदय को अहितकर तथा वात, श्रम, तुषा, खौंसी, ज्वर, अरुचि, कृमि, अण, पित्त, कफ, वमन, कुष्ठ, हृत्सा तथा प्रमेह इन सबों का नाशक होता है ॥

अथ निम्बस्य पत्रफलयोगुणानाह

निम्बपत्रं स्मृतं नेत्र्यं कृमिपित्तविषप्रणुत् । वातलं कटुपाकञ्च सर्वांरोचककुष्ठनुत् ॥ ९५ ॥
निम्बफलं रसे तित्तं पाके तु कटुभेदनम् । क्षिप्रं लघूष्णं कुष्ठघ्नं गुह्यमार्शःकृमिमेहनुत् ॥ ९६ ॥

'नीम' के पत्ते तथा फलों के गुण : नीम के पत्ते—नेत्र को हितकर, कृमि-पित्त-विष के नाशक, वातकारक, पाक में कटुरसयुक्त तथा सभी प्रकार की अरुचि और कुष्ठ को दूर करने वाले होते हैं। नीम का फल-रस में तित्त तथा पाक में कटु, मल का भेदन करने वाला, स्निग्ध, लघु, क्षणवीर्य, कुष्ठ, गुह्य, बवासीर, कृमि तथा प्रमेह का नाशक होता है ॥ ९५-९६ ॥

१. कृत इति पाठा० ।

४३ नीम

हिं०-नीम। बं०-निम, निमगाछ। म०-निब, लिब, कडूनिब, बालतनिब। गु०-लीबडो, लीमडो। पं०-निब, निम। उरि०-नीमो। ता०-वेप्पु, वेन्डु। तै०-वेप। मल०-आयवेप्पु, वेप्पु। क०-वेविनमर। अ०-आजाद दस्तुल हिंद। फा०-नीब। अं०-Neem Tree (नीम टी), Margosa (मार्गोसा), Indian Lilac (इन्डियन् लिलैक)। ले०-*Azadirachta indica*, *A. Juss* (पञ्जादिरैकटा इन्डिका, ए. जस); *Melia azadirachta*, Linn. (मेलिआएझादिरैकटा, लिन.)। Fam. Meliaceae (मेलिपसी)।

नीम के लगाये वृक्ष इस देश के सभी प्रान्तों में पाये जाते हैं और सभी लोग इसको मकी-मॉति जानते हैं। दक्षिण एवं बर्मा के शुष्क जंगलों में यह जंगली स्वरूप में पाया जाता है। यह ४०-५० फीट ऊँचा, अनेक शाखा-प्रशाखाओं से युक्त, सघन और छायादार होता है। छोटी-छोटी टहनियों के अन्त में ८-२५ इंच लम्बे असमपक्षवत् पत्ते रहते हैं। पत्रक-संख्या में १४-१९, विपरीत या एकान्तर, टेढ़े, भालाकार, ४-५ अंगुल लम्बे, १-१.३ अंगुल चौड़े, नुकीले और दन्तुर होते हैं। वसन्त ऋतु में पुराने पत्ते गिर जाते हैं और नवीन पत्ते निकलने के साथ छोटे छोटे सफेद रंग के सुगंधयुक्त फूलों के गुच्छे लगते हैं। फल-करीब ३ इंच खिरनी के समान लम्बाई किये गोल होते हैं जिसमें एक एक बीज होते हैं। बीजों को निम्बोली कहते हैं। इसकी छाल से एक स्वच्छ, चमकीला अम्बर के वर्ण का गोंद निकलता है।

इसकी छाल करीब १० मि. मि. मोटी, बाहर से भूरे-भूसर वर्ण की, खुरदरी शकसम एवं फटी हुई तथा अन्दर से पीताभ, परतदार एवं मोटे रेशों से युक्त होती है।

इसकी छाल, मूलत्वक्, पत्र, गोंद, फल, बीज, पुष्प, ताड़ो एवं तैल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसके काण्डत्वक् में एक कडुवा पदार्थ मार्गोसीन (Margosine), निम्बिडिन (Nimbidin, 0.5%), निम्बिन (Nimbic, C₂₈H₄₀O₈, 0.03%), निम्बिनिन (Nimbicin C₂₇H₃₀O₉), निम्बोस्टेरोल एवं पुष्पों में पाये जाने वाले उड़नशील तैल की तरह एक उड़नशील तैल ये पदार्थ पाये जाते हैं। इसमें करीब ६% टैनिन भी रहता है। इसके बाह्यत्वक् में टैनिन अधिक रहता है तथा अन्तस्त्वक् में कडुवे पदार्थ पाये जाते हैं। इसके अन्तस्त्वक् का काथ बनाना चाहिये। इसके पत्तों में भी कडुवा पदार्थ रहता है जो छाल की अपेक्षा कम मात्रा में होते हुए भी जल में अधिक मात्रा में एवं जल्दी घुलता है।

इसके बीजों में ३१% तक एक तैल रहता है जो गहरे पीले रंग का, कडुवा, तीता एवं दुर्गन्धयुक्त होता है। इसमें करीब २% कडुवे पदार्थ रहते हैं जिनमें निम्बिन, निम्बिनिन, निम्बिडिन एवं तैल में घुलनशील एक द्रव निम्बिडोल (Nimbidol, 0.6%) ये पाये जाते हैं। इनके अतिरिक्त इस तैल में ओलिक् अॅसिड (Oleic acid, 49-61.9%), लिनोल्क अॅसिड (Linoleic acid, 2.12-15%), पामिटिक अॅसिड (Palmitic acid, 12.62-15%), स्टीयरिक अॅसिड (Stearic acid, 14.4-21.3%), अॅरिचिडिक अॅसिड (Arachidic acid, 1.3-1.8%), एवं लिग्नोसेरिक अॅसिड (Lignoceric acid, 0.74%) ये रहते हैं। इस तैल के साठुन बनाने लायक भाग से बचे हुए हिस्से में निम्बोस्टेरोल रहता है।

इस तैल में 0.427% गंधक पाया जाता है। इसके तैल से अत्यन्त कडुवा एवं जल में घुलने वाला सोडियम मार्गोसेट (Sodium margosate, B. C. P. W.) नामक एक लवण बनाया गया है।

गुण और प्रयोग—इसकी अन्दर की छाल शीतल, कडुवी, पौष्टिक, नियतकालिकज्वर-प्रतिबन्धक, ग्राही, त्वग्दोषहर, कृमिघ्न एवं रसायन है। सम्पूर्ण छाल अधिक ग्राही होती है। त्वचा पर निम्बत्वक् की क्रिया सोमल की तरह होती है। इसका ज्वरघ्न गुण सिकोना की तरह है। इसकी मूलत्वक् कृमिघ्न (आग्नि) मानी जाती है।

इसके पत्ते शोधन, त्वचा के लिये उत्तेजक, त्वग्दोषहर, व्रणशोधक, व्रणरोपक, कृमिघ्न, प्रतिदूषक, यकृतोत्तेजक, कुष्ठहर एवं अधिक मात्रा में वामक होते हैं।

इसका तेल उष्ण, वातहर, प्रतिदूषक, व्रणशोधक, व्रणरोपक, उत्तेजक, केश्य, कृमिघ्न, कुष्ठघ्न एवं रसायन है। निम्ब के सभी अङ्गों की अपेक्षा इसका तेल अधिक प्रभावशाली है।

(१) नीम की छाल का चूर्ण मलेरिया के लिये बहुत लाभदायक है। शोधयुक्त ज्वर एवं विषमज्वर तथा ज्वर के पश्चात् दीर्घकाल दूर करने के लिये इसके चूर्ण या काथ का उपयोग किया जाता है। किनीन आदि से जब लाभ नहीं होता तब इसका उपयोग करते हैं। ज्वर में इसके साथ धनियाँ, सोंठ, लौंग, दालचीनी या मिरिच, चिरायता तथा ग्राहीपन कम करने के लिये कुटकी का उपयोग किया जाता है। श्वेतप्रदर में बबूल की छाल एवं नीम की छाल का काथ लाभदायक होता है।

(२) इसके पत्तों का उपयोग त्वचा के विकार, व्रण, क्षत तथा कुष्ठ में किया जाता है। चर्मविकारों में इससे स्नान कराया जाता है। व्रण, पामा, कण्डू, छाजन, अरुचिका, दूषितव्रण, पुराने व्रण एवं अन्य चर्मविकारों में इससे स्नान कराते हैं, इसके पत्तों को पीस कर बाँधते हैं या इससे सिद्ध घृत का मलहम आदि लगाते हैं। अर्श, बद, गाँठ एवं व्रणशोध में इसका पोखिस बाँधा जाता है। विचचिका (Weeping eczema) में यदि इसके पत्तों को पीस कर बाँध दें और जब तक अपने से निकले नहीं तब तक रहने दें तो बहुत जल्दी लाभ होता है। कुष्ठ में इसके पश्चात् के चूर्ण या काथ का स्नान, पान एवं लेपादि में उपयोग होता है। इसके पत्तों को पीस कर आँवला या हरीतकी के साथ खाने से कुष्ठ में लाभ होता है। यद्यपि इसके पत्तों का स्वरस आन्त्र के कृमियों (केंचुआ) में लाभदायक माना जाता है तथापि श्रीकेस और मूसकर का मत है कि ४ ड्राम की मात्रा में इसके प्रयोग से कोई लाभ नहीं हुआ। इसके देने के पहले और पश्चात् विरेचन नहीं दिया गया था। फिरंग में इसका रस १ पाव की मात्रा में सुबह शाम पिलाते हैं। सोजाक में शिरन में शोध होकर मूत्र सकता है तब इसके काथ में रोगी को बैठते हैं जिससे पेशाब होने लगती है। कामला में अधिक मात्रा में इसका स्वरस मधु के साथ सुबह पिलाया जाता है। इसके साथ सोंठ भी देते हैं। कभी-कभी अधिक मात्रा से वमन हो जाता है। प्रसूता को प्रथम दिन से ही इसका स्वरस देने से हर प्रकार से लाभ होता है। इससे गर्भाशय का संकोच होकर स्त्राव की शुद्धि होती है एवं शोध कम होता है। भूख लगना, पाखाना साफ होना, ज्वर न आना या कम आना एवं बच्चे का स्वास्थ्य अच्छा रहना ये सब लाभ इसके देने से होते हैं। मसूरिका (Small pox) में इसके पत्तों से हवा की जाती है एवं रोगी के विस्तर पर इसको बिछाते हैं। इसके कोमल पत्तों की दो रत्ती की गोली बना कर मुलेठी के साथ देने से लाभ होता है। पत्तों को पुस्तक तथा कपड़े आदि में रखने से कीड़े नहीं लगते। ज्वर में घृत एवं मधु के साथ इसके पत्तों का धूप दिया जाता है।

(३) इसके तेल का कुछ फिरंग, श्लीपद, व्रण, दूषितव्रण, गण्डमाला, आमवात एवं विषमज्वर में उपयोग किया जाता है। कुष्ठ, फिरंग, त्वचा के रोग एवं विषमज्वर आदि में इसको ५-१० बूँद की मात्रा में दिन में २ बार देते हैं। इसका बाह्य प्रयोग भी करते हैं।

अपची, नाडीव्रण, पामा, कण्डू, छाजन, दद्रु, विसर्प, आमवात, उदरद, शीतपित्त एवं दूषित व्रण में तेल को लगाते हैं। कुष्ठव्रण में इसके साथ चौलमोगरा का तेल मिलाकर लगाते हैं। तेल से दाह होने पर इसमें ३ तिलतैल मिलाकर उपयोग करना चाहिये। आमवात में इसकी मालिश के साथ-साथ इसका आन्तरिक प्रयोग भी किया जाता है। शिरःशूल में सर पर इसको मलते हैं। खालित्य एवं पालित्य में इसके नस्य का विधान है। आग्नि कृमि में पत्रस्वरस की तरह इसके तेल को १-४ ड्राम की मात्रा में देने से लाभ नहीं देखा गया, यद्यपि पूर्ण मात्रा से किसी किसी में अतिसार, हृत्तास तथा वेचैनी होती है।

इसके तेल से बने हुए लवण सोडियम या पोटेशियम मार्गोसैट (Margosate) का उपयोग त्वचा, मांसपेशी तथा सिरों के द्वारा किया जाता है। इसका शरीर में जीवाणुविरोधी कार्य होता है। पामा (Scabies), छाजन (Eczema) एवं स्फोट (Pempbigus) में इससे अच्छा लाभ होता है। फिरंग की प्रथम एवं द्वितीयावस्था में चिकित्सा जिनमें नहीं की गई उनको अपेक्षा इसके द्वारा अधिक लाभ होता है। इसमें इसे ०.०१-०.३२ ग्राम सूचिकामरण द्वारा दिया जाता है। फिरंग की तृतीयावस्था या द्वितीयावस्था के अन्त के ग्रन्थि (गमा) तथा त्वचा के विकार इससे जल्दी अच्छे होते हैं, यद्यपि इसका परिणाम पाश्चात्य चिकित्सा की अन्य पारद, आयोडाइड आदि औषधियों के इतना संतोषजनक नहीं होता। कुष्ठ एवं फिरंगादि में तेल की अपेक्षा इसके सूचिकामरण एवं मार्गोसैट के स्थानिक प्रयोग से अधिक लाभ होता है।

(४) इसके फल विरेचक एवं स्नेहन हैं तथा कृमि, अर्श एवं मूत्रविकार में इनका उपयोग करते हैं। अर्श में इसके बीज को गुड़ के साथ खिलाते हैं।

(५) इसके पुष्प का फाँट ज्वर के पश्चात् बल्यरूप में एवं पाचन की खराबी में देते हैं।

(६) इसकी ताड़ी में शर्करा, अँक्युमिन, गोंद एवं लौह, खटिक तथा अस्त्युमिनिअम् के लवण होते हैं। यह दीपन, पोषक, बलप्रद, कृमिघ्न, रसायन एवं चर्मविकारों में लाभदायक मानी जाती है।

मात्रा—अन्तस्त्वक् चूर्ण २-४ माशा; स्वरस ३-१ छटॉक; तेल ५-१० बूँद।

अथ महानिम्बः । तस्य नामानि गुणांश्चाह

महानिम्बः स्मृतो द्रेका रम्यको विषमुष्टिकः । केशमुष्टिर्निम्बकश्च कार्मुको जीव इत्यपि ॥९७॥

महानिम्बो हिमो रुक्षस्तिक्तो ग्राही कषायकः ॥ ९८ ॥

कफपित्तभ्रमच्छर्दिक्कुष्ठहृत्सासरक्तजित् । प्रमेहश्वासगुल्माशौमूषिकाविषनाशनः ॥ ९९ ॥

महानिम्ब के नाम तथा गुण—महानिम्ब, द्रेका, रम्यक, विषमुष्टिक, केशमुष्टि, निम्बक, कार्मुक और जीव ये सब संस्कृत नाम 'वकायन' के हैं। वकायन-शीतवीर्य, रुक्ष, तिक्त तथा कषाय रसयुक्त और ग्राही (मलावरोधक) होता है। यह कफ, पित्त, भ्रम, वमन, कुष्ठ, हृत्तास, रक्तदोष, प्रमेह, श्वास, गुल्म, बवासीर और सूँहे का विष इन सबों का नाशक होता है ॥

नोट—महानिम्ब के विषय में कुछ भ्रम है। भावप्रकाश, धन्वन्तरि एवं मदनभाल निर्घटुओं में निम्ब तथा महानिम्ब ये दो भेद मिलते हैं। राजनिघण्टु में एक तृतीय भेद कैडर्य का उल्लेख किया है। कैडर्य नाम कायफल के लिये आता है। किन्तु टीकाकारों ने उसका अर्थ पर्वतनिम्ब भी किया है। चरक एवं सुश्रुत में 'पर्वतनिम्ब' शब्द का प्रयोग नहीं किया गया है। कुछ लोगों ने कैडर्य को

मीठा नीम, ले०-मुरया कोनिजीआई स्प्रेग (*Murraya koenigii Spreng*) माना है किन्तु रा० नि० ने कैडर्य का स्वाद कटु तिक्त कषाय लिखा है। एहलेन्थस एक्सेल्सा राक्स (*Ailanthus excelsa Roxb*) को कुछ लोगों ने महानिंब माना है जिसको पंजाबी में 'अरुअ' कहने के कारण कुछ लोग अरुअ के स्थान पर प्रयोग करते हैं या अरुअ (श्यानाक) का भेद मानते हैं। अधिकांश लोगों ने बकायन को, जिसका ले०-नाम मेलिआ एझेडेरैक (*Melia azedarach*) है उसे महानिंब माना है। निघण्टुओं में महानिंब का पर्याय 'द्रेका' दिया हुआ है तथा बकायन को पंजाब में द्रेक कहते भी हैं। अर्श में महानिंब का प्रयोग वाग्भट ने किया है (चि० अ० ८) एवं वैद्य तथा इकीमी में बकायन के फलों का प्रयोग प्रचलित है। महानिंब का 'अक्षीर' यह पर्याय अन्य निघण्टुओं ने दिया है तथा निंब का पर्याय 'हिंयुनिर्वास' दिया हुआ है जो क्रमशः बकायन एवं नीम की ओर संकेत करते हैं। सुश्रुत में पिप्पल्यादिगण (सू० अ० ३८) में महानिंब के फल का एवं अधोभागहरवर्ग (सू० अ० ३९) में 'रम्यक' नाम से इसकी त्वचा का उल्लेख है।

आकाश नीम—नीम चमेली नामक वृक्ष होता है। इसका लेटिन नाम मिलिंगटोनिया हॉर्टेंसिस लिन, (*Millingtonia hortensis Linn. f.*, Fam. Bignoniaceae) है। इसके सुन्दर जैचे वृक्ष होते हैं जो बगीचों में इसके सुन्दर पत्र एवं श्वेत सुगंधित पुष्पों के लिये लगाये जाते हैं। इसमें एक तिक्त द्रव्य तथा टैनिन् होता है तथा ज्वरघ्न गुण के लिये इसका प्रयोग करते हैं।

यहाँ पर दोनों प्रकार के महानिंबों का वर्णन अलग-अलग किया गया है।

४४ (क) महानिंब (बकायन)

हि०-बकायन, बकाइन, महानीम। बं०-घांझानिम, महानिम। म०-बकाणानिंब। गु०-बकानलिंबडो। क०-बेट्टदवेड। ते०-तुरक वेवक, कोड वेप। ता०-मल्लैवेन्दु। पं०-देक, धरेक, बकइन। कोल०-गरनिम। आसाम०-धमगा। ने०-बकैनु। सिन्धु०-बकयुन, डेक। फा०-आजाद दरख्त। अ०-बान्, हवीत। अं०-Persian Lilac (पशियन् लिलैक); The Bead Tree (बीड ट्री)। ले०-*Melia azedarach Linn.* (मेलिआ एझेडेरैक लिन)। Fam. Meliaceae (मेलिपसी)।

प्रायः सब प्रान्तों में इसका वृक्ष पाया जाता है। बकायन-का वृक्ष सुन्दर, मध्यमाकार का, नीम वृक्ष से छोटा और अचिरस्थायी होता है। नीम के पत्तों के समान इसकी भी पत्ते होते हैं। पत्ते-प्रायः त्रिपक्षवत्, २ फीट लम्बे और शाखाओं पर दलबद्ध होकर रहते हैं। पत्रक-प्रासवत्, आरावत् दन्तुर, लम्बाघ्न, नीम जैसे किन्तु उससे कुछ कम लम्बे तथा कम मुड़े हुए होते हैं। पुष्प-लिलैक (*Lilac*) एवं सुगन्धित रहते हैं जिसके आभ्यन्तर दल फूले हुए, श्वेत या बैंगनी रंग के होते हैं तथा बीच में पुंकेसरों की गहरे बैंगनी रंग की नलिका रहती है। फल-नीम की तरह अछिल फल प्रायः २ इञ्च से कम लम्बे होते हैं। बीज-प्रत्येक फल में ५ बीज होते हैं जिनके बीच में मणि के समान छिद्र होता है जिसके कारण इनकी माला बनाई जाती है।

इसके मूल की ताजी अन्तस्त्वक्, पुष्प, फलमज्जा एवं पत्र का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी अन्तस्त्वक् में हलके पीतवर्ण का, कड़वा तथा राख की तरह का पदार्थ रहता है जो उबलते जल में घुलता है। बाह्यत्वक् में टैनिन् रहता है। इसमें शर्करा भी पाई जाती है।

गुण और प्रयोग—बकायन के गुण साधारणतः नीम के समान हैं। यह कृमिघ्न, त्वन्दोषहर, गर्भाशयसंकोचक, वेदनाहर, अशोष्ण एवं शोथन है। अधिक मात्रा में यह वामक, विरेचक एवं संशानाशन है। इससे केंचुए मरते हैं।

प्रसूता में शिरःशूल एवं गर्भाशयपीडा कम करने के लिये इसके पुष्पों को पीसकर सर पर एवं पेड़ पर बाँधते हैं। रक्तविकार के कारण उत्पन्न कुष्ठ, गडमाला एवं खालित्य आदि त्वचा के विकारों में इसके बीज, छाल या पत्रस्वरस को देते हैं। अर्श में इसके फल की मज्जा का उपयोग किया जाता है। इसके पुष्प एवं पत्तों को पीसकर स्नायविक शिरःशूल में लेप करते हैं। इसके पत्तों का काथ डिस्टीरिया में पिलाते हैं।

मात्रा—छाल ३ से ६ माशा; फलमज्जा २ से ८ रत्ती।

४५ (ख) महानिंब

हिं०-महानिंब, घोडाकरंज। बं०-महानिम। म०-महारुख। गु०-मोटो अडुंसो, अरलवो। पं०-अरुअ। ता०-पेरुमरुत्तु। ते०-पेदमानु। क०-दोडुमणि। म०-पेरुमरम्। उरि०-महानिम, महाल। ले०-*Ailanthus excelsa Roxb.* (एहलेन्थस एक्सेल्सा राक्स)। Fam. Simarubaceae (सिमारुबेसी)।

यह भारत के कई प्रान्त—उत्तरप्रदेश, विहार, पश्चिमी बंगाल, कर्नाटक एवं गुजरात आदि में पाया जाता है।

इसका वृक्ष ६० से ८० फीट ऊँचा होता है। छाल—धूसर वर्ण की होती है। पत्ते—२-३ फीट लंबे, पक्षवत्, संयुक्त पत्र होते हैं। पत्रक—३-६" लंबे, २-३" चौड़े, अधरतल पर रोमश, नोकदार, दन्तुर धारवाले, तिरछे आधारवाले, संख्या में १०-१३ जोड़े, १-२" लंबे वृन्त से युक्त एवं आधार के पास दो रोमश ग्रंथियों से युक्त होते हैं। पत्तों में उग्र गंध आती है। पुष्प-पीताम्ब, बड़ी-बड़ी मंजरियों में आते हैं। फल-छीमी की तरह बीच से फूला हुआ एवं अन्त में अकुडेदार होता है जिसमें एक बीज रहता है। इसकी लकड़ी हलकी तथा मुलायम होती है।

इसकी छाल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। इसमें गन्ध नहीं होती किन्तु इसका स्वाद बहुत कड़वा होता है। यह मोटी, खुरदरी तथा रवेदार होती है। इसका बाह्यभाग तथा अन्दर का भाग पीताम्ब श्वेत रहता है तथा अन्दर रेशे मादक होते हैं। भिगाने से यह फूलती है, चिपचिपी होती है तथा उसमें अप्रिय गन्ध आती है।

इसे कुछ लोगों ने महानिंब तथा कुछ लोगों ने श्यानाक-भेद माना है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में एहलेन्थिक अॅसिड (*Ailanthic acid*) नामक एक अत्यन्त कड़वा, रक्ताभ भूरे रंग का पदार्थ पाया जाता है जो जल में आसानी से घुल जाता है किन्तु मद्यसार में आसानी से नहीं घुलता।

गुण और प्रयोग—यह कड़वा, पौष्टिक, दीपन, ग्राही एवं ज्वरहर है। इसका प्रभाव कुरैया के समान होता है।

प्रसूता को इसके पत्रस्वरस या ताजी छाल को रस को नारियल के दूध, गुड़, मधु एवं सुगन्धित पदार्थों के साथ खीर बनाकर देने से प्रसवपश्चात् पीडा कम होती है। इसकी छाल एवं पत्तों का काथ प्रसवपश्चात् दौर्बल्य के लिये बल्यरूप में देते हैं। जीर्णज्वर या दौर्बल्य में इसके प्रयोग से बल बढ़ता है। अग्निमांश में इसके छाल का रस १३ औं० की मात्रा में दिन में दो बार

देते हैं। एथेलेन्टिक एसिड की बन्ध एवं रसायनरूप में ३-१३.२० की मात्रा में दिया जाता है किन्तु अधिक मात्रा में इससे हलास, वमन एवं विरेचन होता है।

मात्रा— $\frac{1}{4}$ — $\frac{1}{2}$ तो०।

अथ पारिभद्रः (फरहद) । तस्य नामानि तत्पत्रस्य च गुणांश्चाह

पारिभद्रो निम्बतरुमन्दारः पारिजातकः ।

पारिभद्रोऽनिलरलेष्मशोथमेदःकृमिप्रणुत् । तत्पत्रं पित्तरोगघ्नं कर्णव्याधिविनाशनम् ॥१००॥

फरहद के नाम तथा गुण—पारिभद्र, निम्बतरु, मन्दार और पारिजातक ये सब संस्कृत नाम फरहद के हैं। फरहद—वायु, कफ, शोथ, मेदरोग और कृमि का नाशक होता है। इसके पत्ते—पित्तरोग तथा कान के रोगों को दूर करने वाले होते हैं ॥ १०० ॥

नोट—पारिभद्र के जो पर्याय निम्बतरु, मंदार एवं पारिजातक दिये हुये हैं उनसे कुछ भ्रम उत्पन्न होता है। इसी प्रकार देवदार एवं पर्वतनिंब के लिये भी पारिभद्र नाम का उपयोग किया गया है। पारिभद्र से अधिकांश विद्वान् फरहद का ग्रहण करते हैं। संदर्भ के आधार पर या टीकाकारों के मतानुसार पारिभद्र का अर्थ निंब, देवदार या पारिजातक किया जा सकता है। पारिजाता यह नाम हरसिंगार के लिये अधिक प्रचलित होने के कारण एवं पारिभद्र का पारिजातक यह पर्याय होने के कारण हरसिंगार को ही कुछ लोग पारिभद्र मानते हैं। कुछ विद्वानों के मत से हरसिंगार 'शेफालिका' हो सकती है किन्तु भावप्रकाशकार तथा अन्य निघण्टुकारों ने शेफाली(लिका) को निगुण्डीमेद लिखा है।

पारिभद्रक नाम से सुष्ठत ने पूतनाप्रतिषेध (उ. अ. ३२-३) के लिये एवं कृमि (उ. अ. ५४-२६) के लिये उपयोग लिखा है। पारिजातक नाम से प्लीहोदर (चि. १४-१२) में एवं पारिजात नाम से उदकमेह (चि. ११-८) में उल्लेख है। यहाँ पर फरहद एवं हरसिंगार दोनों का अलग-अलग वर्णन किया गया है।

४६ फरहद

हि०—फरहद, पांगारा। बं०—पाल ते मादार। म०—पाङ्गारा। गु०—पडिरवो, पनरवो। क०—होंगर, हलिवाणदमर। ते०—मोदुगो, बरिदे चेट्ट, बारिजमु। ता०—कल्याण मुरुक। अं०—Coral Tree (कोरल ट्री)। ले०—*Erythrina indica Lam.* (एरिथ्रिना इण्डिका लैम.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह प्रायः सब प्रान्तों में कहीं न कहीं पाया जाता है, विशेषकर कोंकण और उत्तर कनारा में अधिक मिलता है।

इसका वृक्ष मध्यमाकार का, शीघ्रता से बढ़ने वाला तथा समय पाकर नष्ट हो जाने वाला होता है। कोमल डालियों पर सीधे, काले रङ्ग के तीक्ष्ण काँटे रहते हैं। छाल-चिकनी तथा हरी, भूरी, हलकी पीली या श्वेत खड़ी रेखाओं से युक्त एवं पतली पपड़ियाँ छूटने पर हरी होती है। पत्ते-पलाशपत्र के समान त्रिदल होते हैं। पत्रक ४-६ इञ्च के घेरे में गोलाकार और किञ्चित् नुकीले होते हैं। अग्र का पत्रक सबसे बड़ा होता है। पुष्पदंड ४ इञ्च लम्बा और मंजरी प्रायः ६ इञ्च लम्बी होती है। फूल-अत्यन्त रक्त वर्ण के सुहावने दिखाई पड़ते हैं। पुष्प का बाह्यकोश एक ओर मूल तक फट जाता है और भ्रम पर पाँच द्रौत बन जाते हैं। आभ्यन्तर दल पाँच होते हैं

१. पुष्पं पित्तरुजं हन्ति कर्णव्याधिं विनाशयेत् ॥ (नि. र.)

जिनमें एक सबसे बड़ा होता है। इनके बीच से लाल पुंकेसरों का गुच्छा निकलता रहता है। इनमें गन्ध नहीं होती। फलियाँ—६-१० इञ्च लम्बी, चिपटी, चौचदार, किञ्चित् टेढ़ी, ताजी अवस्था में हरी किन्तु बाद में काली हो जाती हैं। बीज-संख्या में ६-१२, चिकने, भूरे या लाल, अंढाकार तथा करीब १ इञ्च बड़े होते हैं।

इसी का एक उपभेद होता है जिसके पुष्प मटमैले श्वेताभ रंग के होते हैं।

इसकी दूसरी जाति ए. सुबरोजा राक्स. (E. suberosa Roxb.), धवलढाक-उत्तर-भारत में अधिक होती है। इसके वृक्ष छोटे होते हैं। इसकी छाल मोटी कार्क वाली, पत्रक चौड़े लट्वाकार या तिर्यगायताकार एवं पुष्प का बाह्यकोश द्व्योष्क होता है।

फरहद की छाल एवं पत्र का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। छाल हलासकारक तो होती है किन्तु कड़वी नहीं होती।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में दो प्रकार की रास एवं एक कड़वा परिथेराइन (Erytherine) नामक विषैला क्षाराम पाया जाता है जो कुचले के क्षाराम स्ट्रिकनीन (Strychnine) के विषैले प्रभाव का निवारक (Antidote) माना जाता है। यह क्षाराम पत्तों में भी पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—फरहद की छाल ज्वरहर, ग्राही, बन्ध, कृमिघ्न, स्वप्नजनन एवं शोथहर होती है। इसके पत्ते मूत्रल, मृदुविरेचक, आर्तवजनन, दुग्धवर्धक, शोथहर, व्रणशोषक एवं कृमिघ्न होते हैं। केन्द्रीयवातनाडीसंस्थान के ऊपर इसकी छाल का शामक प्रभाव पड़ने के कारण उसकी क्रिया कम होती है या बन्द होती है। हृदय पर भी इसका शामक प्रभाव पड़ता है। कुचले के प्रभाव के विरुद्ध इसका प्रभाव पड़ता है।

इसकी छाल को रक्तयुक्त आँव, ज्वर तथा निद्रा लाने के लिये प्रयोग करते हैं। नेत्राभिष्यंद में छाल को पीसकर पलकों पर लगाते हैं। इसकी छाल के अन्दर के भाग पर घी लगाकर तथा उस पर घी के दिये का काजल जमाकर इसका नेत्र के विकारों में अञ्जन कराया जाता है। वाजीकरण के लिये सफेद फूल के फरहद की कोमल जड़ को पीस कर शीतल दूध के साथ पिलाते हैं।

इसके पत्तों का स्वरस फिरंग, उपदंश, ज्वर, अनातंभ, कष्टातंभ, मूत्रकृच्छ्र एवं कृमि में पिलाया जाता है। व्रणप्रक्षालन के लिये एवं कर्णशूल, दंतशूल आदि के लिये भी इसका उपयोग करते हैं। पत्तों का लेप शोथ, बन्ध, संधिपीडा तथा व्रण पर किया जाता है। इससे वेदना कम होती है। आर्तवशुद्धि तथा दुग्धवृद्धि के लिये नारियल के दूध के साथ इसके पत्तों को उबालकर बनाया हुआ काथ प्रसूता को पिलाया जाता है।

मात्रा—त्वक्चूर्ण ३-१ तो०; पत्रस्वरस ३-१ तो०।

४७ पारिजाता, हरसिंगार

सं०—शेफालिका। हि०—हरसिंगार, पारिजाता, कूरी, सिद्धार। बं०—शेफालिका, शिउली। म०—पारिजातक। गु०—हारशगंगार। पं०—कूरी, पकर। ता०—ववलमल्लिकै। ते०—पगडमरले। मल०—पविज्ञमरिल। क०—पारिजात। अं०—Night Jasmine (नाइट जस्मीन); Weeping Nyotantes (वीपिंग निकेटेन्थिस); Tree of Sorrow (ट्री ऑफ़ सारो)। ले०—*Nyctanthes arbor-tristis, Linn.* (निकेटेन्थिस आर्बोर-ट्रिस्टिस, लिन.)। Fam. Oleaceae (ओलिफसी)।

यह मध्यभारत तथा हिमालय के निचले प्रदेशों में बहुत होता है। यह प्रायः सब प्रांतों के बागों में लगाया हुआ मिलता है।

इसका वृक्ष-छोटा, झाड़ीदार तथा कभी-कभी २५-३० फीट ऊँचा होता है। छाल-इलके भूरे रंग की तथा खुरदरी होती है। काष्ठ-श्वेत तथा हरित इलके लाल या पीताम भूरे रंग का होता है। पत्ते-जपापत्र की तरह, करीब ४ इञ्च लम्बे, २ ३/४ इञ्च चौड़े, विपरीत, स्पष्ट में अत्यन्त रूक्ष (खर), मुकीले, अंडाकार, आधार की तरफ गोल, नीचे का पृष्ठ मृदुरीमश, पत्रतट अखंड या दूर-दूर पर कुछ दन्तुर एवं मज्जत पर्णवृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प-अत्यन्त सुगन्धित होते हैं। इनकी पंखड़ियाँ श्वेत एवं पुष्पवृन्त केसरिया वर्ण के होते हैं। ये रात को खिलते हैं तथा सुबह झड़ जाते हैं। फल-चिपटे, गोल, हरे रंग के, करीब ३ इञ्च व्यास के एवं किनारे पर दबे हुए रहते हैं। बाद में ये मिदुर एवं भूरे रंग के हो जाते हैं। बीज-छोटे, दो, चिपटे तथा अंडाकार होते हैं।

रासायनिक संगठन—इसके पुष्पों में एक सुगन्धित उद्दणशील तैल रहता है। पुष्पवृन्त से एक प्रकार का रंग निकाला जाता है जिससे रेशमी बख रंगा जाता है। इसके पत्तों में एक निक्टे-न्याइन (Nyctanthine) नामक क्षाराम पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—पारिजातक ज्वरघ्न, कफघ्न, यकृत उत्तेजक, मृदुविरिचक एवं शामक है। इसके पत्र सॅन्टोनिन् (Santonin) जैसे कृमिघ्न, ज्वरघ्न, तिक्तपौष्टिक, पित्तदायक एवं मृदुविरिचक होते हैं। बच्चों के लिये इसके पत्तों का स्वरस अच्छा मृदुविरिचक होता है।

(१) इसके पत्तों का (शेफालिकादलैः) मंद आंच पर बनाया हुआ काय गृध्रसी (Soliatica) के लिये बहुत लाभदायक माना जाता है (चक्रदत्त)। शेफालिका यह नाम नीलनिर्गुण्डी के पर्याय में आया हुआ है तथा व्यवहार में निर्गुण्डी का उपयोग गृध्रसी में किया जाता है। इस दृष्टि से इरसिंगार के पत्तों की अपेक्षा निर्गुण्डी का प्रयोग उचित मालूम पड़ता है।

(२) जीर्ण ज्वर के लिये इसके ७-८ कोमल पत्तों का स्वरस, आर्द्रकस्वरस एवं मधु मिलाकर देते हैं। मलेरिया में यह बहुत लाभदायक है। जीर्ण मलेरिया में इसके साथ त्रिकटु का प्रयोग उचित है। इससे यकृत एवं प्लीहावृद्धि कम होती है। पाण्डु होने पर इसके साथ लौह का प्रयोग किया जाता है। इसके सेवन के समय पथ्य में दुग्ध, घृत एवं शर्करा का अधिक उपयोग किया जाता है।

(३) बच्चों के कृमि (केनुए) के लिये पत्तों के स्वरस को चीनी मिलाकर देते हैं।

(४) खांसी तथा दमा में इसकी छाल के चूर्ण को १-२ र० की मात्रा में पान में रखकर दिन में ३-४ बार देने से कफ का चिपचिपापन कम होता है।

(५) इसके बीजों को जल में पीसकर सर के गंज पर लगाते हैं जिससे नये बाळ उगते हैं।

मात्रा—पत्र २-४; छालचूर्ण १-२ र०।

अथ काञ्चनारो रक्तकाञ्चनारश्च, तयोर्नामानि तत्पुष्पस्य गुणांश्चाह

काञ्चनारः काञ्चनको गण्डारिः शोणपुष्पकः ॥ १०१ ॥

कोविदारश्च मरिक्कः कुहालो युगपत्रकः।

कुण्डली ताम्रपुष्पश्चाश्मन्तकः स्वल्पकेशरी ॥ १०२ ॥

काञ्चनारो हिमोः प्राही तुवरः श्लेष्मपित्तनुत्। कृमिकृष्टगुदभ्रंशगण्डमालात्रणापहः ॥ १०३ ॥

कोविदारोऽपि तद्वस्यात्तयोः पुष्पं लघु स्मृतम्।
रूपं संग्राहि पित्तास्रप्रदरक्तयकासनुत् ॥ १०४ ॥

कचनार तथा लाल कचनार के नाम और गुण—काञ्चनार, काञ्चनक, गण्डारि और शोण-पुष्पक ये सब संस्कृत नाम कचनार के हैं। कचनारभेद कोविदार के संस्कृत नाम—कोविदार, मरिक्क, कुहाल, युगपत्रक, कुण्डली, ताम्रपुष्प, अदमन्तक और स्वल्पकेशरी ये सब हैं। कचनार—शीतवीर्य, मलावरोधक, कषायरसयुक्त, कफ, पित्त, कृमि, कुष्ठ, गुदभ्रंश, गण्डमाला और व्रण को दूर करनेवाला होता है। इसी प्रकार से कचनारभेद कोविदार के भी गुण हैं। दोनों कचनारों के फूल-लघु, रूक्ष, मलावरोधक एवं पित्त, रक्त-प्रदर, क्षय तथा कास (खांसी) को दूर करने वाले होते हैं ॥ १०१-१०४ ॥

नोट—भावप्रकाशकार ने काञ्चनार एवं कोविदार ये दो भेद लिखे हैं किन्तु दोनों के गुण समान ही लिखे हैं। १०० नि० एवं ४० नि० ने कोविदार एवं काञ्चनार ये पर्याय रूप में लिखे हैं किन्तु १०० नि० ने इसके 'पीत पुष्प', 'गिरिज', 'महापुष्प' आदि अन्य पर्यायों का भी उल्लेख किया है। नि० २० ने पीत, रक्त एवं श्वेत ये ३ भेद दिये हैं तथा उनके गुणों का स्वतंत्र उल्लेख किया है।

आधुनिक उद्भिदवेत्ताओं ने भी इसकी कई जातियों का उल्लेख किया है। बौहिनिया बेरिगेटा (Bauhinia variegata) को अधिकांश लोगों ने काञ्चनार माना है। इसके पुष्प चमकीले बैंगनी, गुलाबी, किरमिजी, श्वेत आदि रंगों के होते हैं। इसी प्रकार बौहिनिया पर्प्यूरिया (B. purpurea) को कोविदार मानते हैं क्योंकि इसको कहीं-कहीं स्थानिक भाषा में कोइलार कहते हैं जो संभवतः कोविदार का अपभ्रंश है। इसके पुष्प गहरे गुलाबी, नीलारुण या चमकीले बैंगनी आदि रंगों के होते हैं। इससे ऐसा मालूम होता है कि केवल पुष्पवर्ण के आधार पर कोविदार या काञ्चनार का भेद नहीं किया जा सकता। वास्तव में इनके गुणों में अन्तर न होने के कारण इसकी आवश्यकता भी नहीं है। वैसे तो ४० नि० एवं १०० नि० ने इन्हें पर्याय ही माना है। कुछ लोगों ने श्वेत पुष्प को काञ्चनार एवं रक्तपुष्प को कोविदार माना है:

बौ० टोमेन्टोसा (B. tomentosa) के पुष्प पीतवर्ण के होते हैं।

भावप्रकाशकार ने कोविदार के पर्याय में अश्मन्तक का उल्लेख किया है। १०० नि० एवं ४० नि० दोनों ने अश्मन्तक का कोविदार से अलग स्वतंत्र वर्णन किया है। श्री टा० बलवन्तसिंह जी 'बिहार की वनस्पतियाँ, नामक पुस्तक में लिखते हैं, 'उपर्युक्त दोनों जातियों को [इसी वर्ग के बौ० रसिमोसा लॅम. (B. racemosa Lam.) एवं बौ० मलबारिका राक्स. (B. malabarica Roxb.)] कुछ ग्रन्थकारों ने प्राचीनों का अश्मन्तक माना है, परन्तु इसमें सन्देह है।'

५८ कचनार

(क) हिं०-कचनार, कञ्चनार, कचनार, गोरिआव। चं०-काञ्चन, रक्त काञ्चन। कोल०-जुरजु, बुज, डुरंग। म०-कोरल, काञ्चन। सन्ता०-सिंजर। गु०-चम्पाकाटी। ने०-टकी। मल०-बुवन्नमंदारम्। क०-कैयुमन्दार। ते०-देवकाञ्चनमु। ता०-सेगपुमुन्थरी। अं०-Mountain Ebony (माउन्टेन् एबोनी)। ले०-Bauhinia variegata Linn. (बौहिनिया बेरिगेटा लिन.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह हिमालय के निचले प्रदेशों में, सिक्किम की ओर तथा सब प्रांतों में उपलब्ध होता है।

22

इसका वृक्ष मध्यमाकार का अचिरस्थायी होता है। छाल-भूरे रङ्ग की और लकड़ी-किञ्चित्

२२ भा० नि०

भूरापन युक्त बादामी रङ्ग की होती है। पत्ते-एकान्तर, ३-६ इञ्च लंबे तथा उतने ही चौड़े, द्विखण्डित, खण्ड लगभग चौथाई या तिहाई दूरी तक गहरे (युग्मपत्र), पत्राग्र गोल, पंखे की तरह फैली हुई संख्या में १३-१५ शिराओं वाले एवं करीब एक इञ्च लंबे वृत्त से युक्त होते हैं। पुष्प-शीत ऋतु में पत्ते गिर जाने के पश्चात् ही सुगंधित पुष्प गिरे हुए पत्तों के कोणों से निकले रहते हैं। पुष्पदंड छोटे तथा आपस या नीलारुण रंग के होते हैं। कलिकाएँ घेरे में गोलाई लिये होती हैं। पुष्प-बड़े, श्वेत, गुलाबी, चमकाले बैंगनी तथा किरमिजी रङ्ग के होते हैं। श्वेत पुष्पों का एक या अधिक दलपत्र चित्रित पीतवर्ण का होता है। दलपत्रों में मजबूत मध्यशिरा होती है और आधार से लाल बैंगनी रंग की शिराएँ निकली रहती हैं। फली-लंबी, चिपटी कुछ सुड़ी हुई, करीब १ फुट तक लंबी एवं १०-१५ बीजों से युक्त होती है।

(ख) सं०-कोविदार। हिं०-कोविदार, खैखरवाल, सोना, कोइना (ला) र। बं०-देव-काञ्चन, रक्तकाञ्चन। संथा०-सिहरा। ता०-मंदारि, पेदाआरि। ते०-कांचनम्। ले०-*Bauhinia purpurea* Linn. (बौहिनिया पर्प्युरिआ लिन.)।

इसके भी (क) की तरह के ही मध्यम ऊँचाई के वृक्ष होते हैं। ये छोटे रहने पर ही फूलने-फलने लगते हैं। पत्ते-बहुत गहराई तक कटे हुए, आयताकार, ५-७ इञ्च लम्बे, खंड के अग्र प्रायः कोणीय एवं पत्रसिराएँ ९-११ रहती हैं। पुष्प-पुष्पकलिका गहरे हरे या भूरे रंग की एवं पाँच कोणों से युक्त होती है। पुष्प (क) की अपेक्षा छोटे, पाँच दलपत्रों से युक्त, चमकाले बैंगनी, नीलारुण या गहरे गुलाबी रंग के होते हैं। काञ्चनार तथा कोविदार दोनों में बाह्यनाल लंबा और पूर्ण पुंकेसर ३-५ होते हैं। फली-लम्बी हरिताम बैंगनी रंग की होती है। इसकी जड़ विषैली होती है।

(ग) सं०-पीत कोविदार। ता०-तिरुवत्ती। ते०-कांचीनी। म०-सोन। सिलो०-कहपेतन। ले०-*Bauhinia tomentosa* Linn. (बौहिनिया टोमेन्टोसा लिन.)।

यह लंका में अधिक होता है। इसके पुष्प पीतवर्ण के किन्तु आधार की तरफ कुछ हलके भूरे या किरमिजी रंग के धब्बों से युक्त होते हैं।

सभी की छाल, पत्र एवं पुष्पों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। कोमल कलिकाओं का शाक बनाया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में टैनिन होता है। इससे एक प्रकार का गोंद भी निकलता है।

गुण और प्रयोग—कांचनार की छाल, ग्राही, रसायन, बल्य, व्रणशोधक एवं व्रणरोपक है। इसके पुष्प रक्तपित्तहर हैं। छाल की क्रिया त्वचा तथा रसग्रंथियों पर होती है जिससे वहाँ की विनिमयक्रिया सुधरती है। इसकी अधिक मात्रा से वमन तथा विरेचन होता है।

(१) गंडमाला तथा अपची में इसकी छाल का बहुत प्रयोग किया जाता है। इसका काथ गुग्गुलु के साथ पिलाते हैं तथा इससे व्रणप्रक्षालन करते हैं। गंडमाला में सोंठ एवं इसका चूर्ण चावल के धोवन के साथ देते हैं। इसकी छाल को पीसकर लेप भी करते हैं। नये रोग में इससे अधिक लाभ होता है। इसकी छाल का काथ कुष्ठ, चर्मरोग, अतिसार एवं व्रण में दिया जाता है। मसुरिका में इसके काथ में सुवर्णमाक्षिक मसम डालकर पिलाते हैं। खदिरफल, दाडिमपुष्प एवं इसकी छाल के काथ से कुरला करने से अधिक लालास्राव तथा गले के विकारों में लाभ होता है।

रक्तपित्त में इसके पुष्प का चूर्ण मधु के साथ चटाते हैं तथा इसकी शाक खिलाते हैं। पुष्पों का क्वाथ रक्तप्रदर, रक्तार्श, रक्तमेह तथा कास एवं रक्तातिसार आदि में दिया जाता है। मृदुविरेचक रूप में इसके पुष्पों को चीनी के साथ खिलाते हैं।

इसके मूल का चूर्ण मट्टे के साथ अर्श में दिया जाता है। मूल का क्वाथ अपचन तथा आघमान में दिया जाता है।

मात्रा—स्वक्चूर्ण २-४ माशा। पुष्पकलिकाचूर्ण १-२ माशा।

अथ शोभाञ्जनः (सहिजना), (श्यामः श्वेतो रक्तश्च)

तन्नामानि तद्गुणांश्चाह

शोभाञ्जनः शिशुतीक्ष्णगन्धकाञ्चीवमोचकाः।

तद्बीजं श्वेतमरिचं मधुशिशुः सलोहितः। शिशुः कटुः कटुः पाके तीक्ष्णो मधुरो लघुः ॥ १०५ ॥
दीपनो रोचनो रूक्षः चारुसित्तो विदाहकृत्। संग्राही शुक्रलो हृद्यः पित्तरक्तप्रकोपणः ॥ १०६ ॥
चक्षुष्यः कफवातघ्नो विद्रधिश्चयथुकिमीन्। मेदोऽपचीविषप्लीहगुल्मगण्डव्रणान्हरत् ॥ १०७ ॥

श्वेतः प्रोक्तगुणो ज्ञेयो विशेषाद्दाहकृद्भवेत्।

प्लीहानं विद्रधिहन्ति व्रणघ्नः पित्तरक्तहृत्। मधुशिशुः प्रोक्तगुणो विशेषाद्दीपनः सरः ॥ १०८ ॥

सहिजन के भेद, नाम तथा गुण—सहिजन के १. श्याम सहिजन, २. श्वेत सहिजन तथा ३. लाल सहिजन इस प्रकार से ३ भेद होते हैं। शोभाञ्जन, शिशु, तीक्ष्णगन्धक, अक्षीव और मोचक ये सब संस्कृतनाम सहिजन के हैं। सहिजन के बीज को 'श्वेतमरिच' कहते हैं। जो 'लाल सहिजन' होता है उसे 'मधुशिशु' कहते हैं। शिशु अर्थात् श्याम सहिजन—स्वाद तथा पाक में कटुरसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, मधुर, लघु, अग्निदीपक, रोचक, रूक्ष, क्षार, तिक्तरसयुक्त, विदाहकारक, मलावरोधक, शुकजनक, हृदय को हितकर, पित्त-रक्त को कुपित करने वाला, नेत्रों को हितकर, कफ-वात-नाशक एवं विद्रधि, शोथ, कृमि, मेदरोग, अपची, विष, प्लीहा, गुल्म, गलगण्ड और व्रण का नाशक होता है। इसी प्रकार से 'सफेद सहिजन' के भी गुण हैं किन्तु वह विशेष करके दाहकारक तथा प्लीहा, विद्रधि, व्रण और पित्त-रक्त का नाशक होता है। मधुशिशु अर्थात् 'लाल सहिजन' के भी पूर्वोक्त सभी गुण हैं किन्तु विशेष करके वह अग्निदीपक तथा सारक (दस्तावर) होता है ॥

अथ शिशुवल्कलपत्रस्वरसगुणानाह

शिशुवल्कलपत्राणां स्वरसः परमार्त्सिह्व ॥ १०९ ॥

सहिजन की छाल तथा पत्तों के स्वरस के गुण—सहिजन की छाल तथा पत्तों का स्वरस असह्य पीड़ा को दूर करता है ॥ १०९ ॥

अथ शिशुबीजगुणानाह

चक्षुष्यं शिशुजं बीजं तीक्ष्णोष्णं विषनाशनम्। अतृष्यं कफवातघ्नं तन्मस्येन शिरोऽर्त्तिनुत् ॥ ११० ॥

सहिजन के बीज—नेत्रों को हितकर, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, विषनाशक, अतृष्य और कफ-वात-नाशक होते हैं। सहिजन के बीजों का चूर्ण करके नस्य लेने (सूधने) से शिर की पीड़ा दूर होती है। इसके पुष्प तथा पुष्प-मधु के गुण आगे शाकवर्ग में दिये हुये हैं ॥ ११० ॥

४९ सहिजना

हि०-सहिजना, सहिजन, सहजन, सहजना, सैजन, मुनगा। वं०-सजिना। म०-शेवगा, शेवगा। मा०-सहिजनो, सहिजणो। क०-सुम्गे। ते०-मुनग। गु०-सेकटो, सरगवो। ता०-मोरकै, सुरिगकै। पं०-सोहजना। मला०-सुरिण्णा। ब्राह्मी०-डोडलों बिन। यू०-सिनोह। फा०-सर्व-कोही। अं०-Horse Radish Tree (हॉर्स रेडिश ट्री); Drum Stick Tree (ड्रम स्टिक ट्री)। ले०-Moringa pterygosperma Gaertn. (मोरिङ्गा टेरीगोस्पेर्मा गेर्ट.)। Fam. Morin-gaceae (मोरिंगेसी)।

यह हिमालय के निचले प्रदेशों में चेनाब से लेकर अवध तक जंगलीरूप में तथा भारत के प्रायः सभी प्रांतों में एवं बर्मा में लगाया हुआ मिलता है।

इसका वृक्ष साधारण वृक्षों के समान छोटा, २०-२५ फुट ऊंचा होता है। छाल-चिकनी, मोटी, कार्कयुक्त, भूरे रङ्ग की एवं लम्बाई में फटी हुई और लकड़ी कमजोर होती है। पत्ते-संयुक्त, प्रायः त्रिपक्षवत् तथा १-३ फीट क्विद ५ फीट तक लंबे होते हैं। पत्रक-अंडाकार, लटवाकार, विपरीत एवं करीब ३-३ इंच लंबे होते हैं। कात्तिक महीने से वसन्त ऋतु के आरम्भ तक फूलों के गुच्छे टहनियों के अन्त में दिखाई पड़ते हैं। पुष्प-श्वेतवर्ण के तथा मधु की तरह गन्धवाले होते हैं। फलियाँ-गोल, त्रिकोणाकार, अंगुलिप्रमाण मोटी, १-२० इंच लम्बी, बीजों के बीच बीच में पतली एवं बड़ी-बड़ी खड़ी ९ रेखाओं से युक्त होती हैं। उनमें सफेद, सपक्ष, त्रिकोणाकार तथा लमगा १ इंच लंबे बीज होते हैं। बीजों को सफेद भरिच भी कहते हैं। इससे गोंद भी निकलता है जो पहले दुधिया रहता है किन्तु बाद में वायु का सम्पर्क होने पर ऊपर से गुलाबी या लाल हो जाता है। इसकी कच्ची सेमों का साग और अचार बनाते हैं। इसकी छाल के रेशों से कागज, चटाई, डोरी आदि बनाते हैं। जानवर-विशेषकर ऊँट-इसकी टहनियों को खाते हैं।

इसके मूल, मूल की ताजी छाल, फली, पत्र, बीज एवं गोंद आदि का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। इसकी जड़ बाहर से खुरदरी, जालीदार, हलके भूरे रंग की एवं अन्दर से श्वेत रंग की होती है। हासरेडिश की तरह इसका स्वाद कुछ तीता एवं गन्ध भी तीक्ष्ण होती है।

मोरिंगा कोन्केनेन्सिस निम्मो (Moringa concanensis Nimmo) नामक एक जाति दक्षिण राजपूताना तथा सिन्ध में होती है। इसकी फलियाँ कडवी होती हैं। इसके पुष्प अधिकांश लाल होते हैं।

लाल, काले एवं श्वेतपुष्पभेद से सहजन ३ प्रकार का माना जाता है। अधिकांश श्वेतपुष्प का ही सहजन देखा जाता है। सम्भव है स्थानभेद से कहीं कहीं रक्त तथा श्यामवर्ण के भी सहजन प्राप्त होते हों। भावप्रकाशकार रक्तपुष्प वाले को मधुशिशु कहते हैं। संभव है इस (श्वेत जो अधिकांश मिलता है) वृक्ष के पुष्पों में मधु की तरह गंध होने से इसका नाम मधुशिशु दिया हो।

रासायनिक संगठन-इसके बीजों में करीब ३६% एक निर्गन्ध स्वच्छ तैल रहता है जो सूक्ष्म यन्त्रों में स्निग्धीकरण के काम आता है। यह रखने से खराब भी नहीं होता। बेन ऑइल (Ben-oil) नामक तैल जो घड़ीसाज व्यवहार में लाते हैं वह अधिकतर अफ्रीका में होने वाले इसी की जाति के वृक्ष (M. aptera, मो. आप्टेरा) के बीजों से निकाला जाता है। सुगंध-व्यवसाय में भी इसका उपयोग करते हैं। अस्थिर गन्ध भी इसमें स्थायी हो जाती है।

इसके मूल में स्पाइरोचिन् (Spirochin) नामक कार्यशील क्षारीय द्रव्य (Basic) एवं प्टेरिगोस्पर्मिन् (Pterygospermin) नामक एक प्रतिजैविकीय पदार्थ (Antibiotic) रहता है। इसमें एक उग्र दुर्गन्धयुक्त तैल भी पाया जाता है।

स्पाइरोचिन् नामक क्रियाशील द्रव्य ग्रामधर्मी (Gram positive) उपसर्गों, विशेषकर स्तबक गोलानु एवं मालागोलानुजन्म (Staphylococcal and streptococcal) उपसर्गों में लाभदायक है। यह अधिच्छदीय (Epithelial) कोषाओं की कार्यवृद्धि करता है तथा इसमें कुछ वेदनाहरण का भी गुण है। वातनाडियों पर इसका सामान्यतया अवसादक प्रभाव (General paralyzing effect) पड़ता है। इससे गर्भाशय के अनियमित संकोचों का शमन होकर उसे बल मिलता है।

प्टेरिगोस्पर्मिन् अनेक प्रकार के छत्राणुओं (Fungi) की वृद्धि को रोकता है। इसके साथ अल्प मात्रा में न्यूक्लिक अॅसिड (Nucleic acid) होने पर इसकी कार्यशीलता बहुत बढ़ जाती है। यह ७५००० में १ एवं ४०००० में १ इस अल्प प्रमाण में क्रमशः ग्रामधर्मी एवं ग्रामस्थायी (Gram negative) जीवाणुविरोधी कार्य करता है। अॅल्लिसिन् (Alliein) की तरह यह रक्त एवं आमाशयिक रस की उपस्थिति में कार्यशील रहता है किन्तु अग्न्याशयिक रस (Pancreatic Juice) की उपस्थिति में इसकी कार्यशीलता नष्ट हो जाती है।

गुण और प्रयोग-सहिजन के मूल की ताजी छाल उष्ण, कटु, दीपन, पाचन, उरोजक, वातानुलीमक, वातहर, कफहर, कुमिध्न, शिरोविरेचन, श्वेदजनन, मूत्रजनन, चक्षुष्य, शोथहर एवं त्रणदोषनाशक है। वृक्षशीय में इसका प्रयोग नहीं करना चाहिये। इसका वाष्पलेप स्वरागकारक है।

इसका उपयोग अपची, गुल्म, विद्रधि, शोथ, प्लीहावृद्धि, कुमि, रजःकुच्छ, हिन्का, श्वास, कफज्वर, पाचन के विकार एवं त्रण में किया जाता है।

इसके नये वृक्ष की मूल को ज्वर, अपस्मार, अपतंत्रक, अंगघात, जीर्ण आमवात, जलोदर, यकृत-वृद्धि, प्लीहावृद्धि तथा अपचन में देते हैं। संधि एवं ह्रिग के साथ मूलरक् का काथ विद्रधि, शोथ, फोडे, अश्मरी, अपस्मार एवं अपतंत्रक में दिया जाता है। संत्रे का छिलका, जायफल एवं इसकी मूलरक् का मधुसारीय अर्क मूच्छा, चक्कर, स्नायविक दौर्बल्य, अपतंत्रक, आममाद एवं उद्वेजन-युक्त आंत्रिक विकारों में लाभदायक है। मुखजाख्य, अदित, पक्षाघात आदि वातनाडीसंस्थान के रोगों में इसका स्वरस दिया जाता है।

त्रणशोथ पर छाल को पीसकर लेप करते हैं तथा खिलाते हैं। गले की शिथिलता, मुखविकार, कुमिदंत में इसके काथ से कुल्ला करते हैं। इसकी ताजी जड़ को सरसों एवं आदी के साथ पीस कर प्रतिक्षोभक एवं विस्फोटकारक प्रलेप के रूप में उपयोग करते हैं। संधिशोथ तथा शरीर की पीड़ा में छाल का उष्ण लेप थोड़ी देर के लिये करते हैं।

इसके बीजों के तैल की संधिवात, आमवात तथा वातरक्त में मालिश करते हैं। मूच्छा में बीजों का चूर्ण नाक में डालते हैं।

इसका गोंद धाई होता है तथा आमवात में प्रयोग किया जाता है। इसके पुष्प को दूध में उबालकर वाजीकरण के लिये पिखाते हैं। इसकी फली का साग आंत्रकुमिप्रतिबंधक मानते हैं। इसके कोमल पत्तों का साग खाने से शीत साफ होता है।

मात्रा-मूलरक् ४ से ८ मादा।

अथ श्वेतपुष्पा नीलपुष्पा चापराजिता (कोयल) तयोर्नामानि गुणांश्चाह

आस्फोता गिरिकर्णीस्याद्विष्णुकान्ताऽपराजिता । अपराजिते कट्टु मेध्ये शीते कण्ठये सुदृष्टिदे ॥
कुष्ठमूत्रत्रिदोषामशोथव्रणविषापहे । कषाये कट्टुके पाके तिक्तं च स्मृतिलुद्धिदे ॥ ११२ ॥

सफेद तथा नीले फूल की कोयल के नाम तथा गुण—आस्फोता, गिरिकर्णी, विष्णुकान्ता और अपराजिता ये दोनों प्रकार की 'कोयल' के संस्कृत नाम हैं। दोनों कोयल-कट्टु, तिक्त तथा कषायरसयुक्त, मेधा के लिये हितकर, शीतवीर्य, कण्ठस्वर को उत्तम बनाने वाली, देखने की शक्ति को बढ़ाने वाली तथा कुष्ठ, मूत्ररोग, त्रिदोष, आम, शोथ, व्रण एवं विष को नष्ट करनेवाली, विषाक में कट्टुरसयुक्त, स्मृति तथा बुद्धि को देने वाली होती है ॥ १११-११२ ॥

नोट—भावप्रकाशकार आस्फोता, गिरिकर्णी, विष्णुकान्ता तथा अपराजिता ये चार पर्याय लिखते हैं। घ. नि. एवं रा. नि. में इसके 'अश्वत्थुर', 'श्वेतस्पन्दा' आदि अन्य पर्याय दिये हुए हैं किन्तु विष्णुकान्ता का वहाँ उल्लेख नहीं है। आगे शंखपुष्पीभेद में विष्णुकान्ता का उन्होंने स्वतन्त्र उल्लेख किया है जिसके घ. नि. ने नील, शुक्ल एवं रक्तपुष्पभेद से ३ भेद किये हैं। वहाँ पर रा. नि. ने (शंखपुष्पी के अतिरिक्त) नीलपुष्पा, अपराजिता ये पर्याय विष्णुकान्ता के दिये हैं। भावप्रकाशकार शंखपुष्पी के पर्यायों में विष्णुकान्ता का उल्लेख नहीं करते।

अधिकांश विद्वानों ने अपराजिता को क्लिटोरिया टर्नेटिया लिन. (*Clitoria ternatea* Linn.) माना है तथा इसके नील एवं श्वेतपुष्प भेद पाये भी जाते हैं। किन्तु केरल में इसका (क्लि. टर्नेटिया को) शंखपुष्पी नाम से व्यवहार करते हैं ऐसा उल्लेख 'आयुर्वेदिक फ्लोरा मेडिका' में है। इसी प्रकार एव्होल्यूटस अल्लिसनोइडीस लिन. (*Evolvulus alsinoides* Linn.) जिसे अधिकांश विद्वान् शंखपुष्पी मानते हैं उसका केरल में विष्णुकान्ता नाम से व्यवहार किया जाता है।

श्री डा० बलवन्तसिंह जी का मत है कि एव्होल्यूटस अल्लिसनोइडीस (पुष्प नीले) को ही विष्णुकान्ता मानना चाहिये तथा नीलापराजिता को विष्णुकान्ता नहीं मानना चाहिये। इसी प्रकार शंखपुष्पी के पुष्पों का श्वेत होना आवश्यक होने के कारण ए. अल्लिसनोइडीस से मिलती जुलती उसी वर्ग की अन्य जाति कन्वोल्वुलस प्लुरिकायुलिस चाइसी (*Convolvulus pluricaulis* Choisy) को शंखपुष्पी मानना चाहिये जिसके पुष्प हलके गुलाबी या श्वेत रंग के पाये जाते हैं तथा जिनके पुष्पों में विशेष अन्तर नहीं है। कुछ लोगों ने कन्स्कोरा डिकसेडा शुबर्ट (*Canscora decussata* Schult.) को शंखपुष्पी माना है।

शंखपुष्पी का आगे स्वतन्त्र वर्णन किया गया है। यहाँ अपराजिता (क्लिटोरिया टर्नेटिया) का वर्णन किया गया है।

५० अपराजिता

हि०—अपराजिता, कोयल, काळीज़र । वं०—अपराजिता । म०—गोकर्णी, काजली, गोकर्ण । पं०—धनन्तर । गु०—गरणी । क०—शंखपुष्प, गिरिकर्णिके । ता०—काकणनकोटी । ते०—दिटेन । मल०—शंखपुष्पम् । इरा०—मञ्जेरियुन्-ह-हिंदी । अं०—Winged-leaved clitoria (विंग्ड लिब्ड क्लिटोरिया) । ले०—*Clitoria ternatea* Linn. (क्लिटोरिया टर्नेटिया लिन.) । Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी.) ।

१. विष्णुकान्ता कट्टुस्तिका कफवातामयापहा । (घ. नि.)

यह सब प्रान्तों में पाई जाती है। अधिकतर यह बगीचों में लगाई हुई मिलती है। वस्तियों के आस-पास वन्य अवस्था में भी कभी-कभी दिखाई देती है। पुष्पभेद से यह नील एवं श्वेत दो प्रकार की होती है।

इसकी लता-बहुवर्षायु, सुन्दर तथा पतले काण्ड की होती है। यह वृक्षों या झाड़ियों पर लिपटती हुई (चकारोही) बढ़ती है। पत्ते-संयुक्त, असम-पक्षवत् (Imparipinnate) रहते हैं। पत्रक-प्रायः ५ कमी-कमी ७, अण्डाकार एवं १-२ इंच लम्बे होते हैं। पुष्प-जलसीप के आकार वाले नलीयुक्त, गोल, चमकीले नीले अथवा कभी-कभी श्वेत पुष्प, १½-२ इंच बड़े एवं पत्रकोणीय पुष्पदण्ड में एकाकी रहते हैं। ध्वजदल चम्मच के आकार का और पक्षदलों के नीचे फैला रहता है। कोणपुष्पक बड़े, स्थायी तथा पर्णसदृश होते हैं। फली-२-४ इंच लम्बी, चिपटी, नुकीली तथा सीधी या बहुत थोड़ी मुड़ी हुई होती है। बीज-६-१० अण्डाकार, चिपटे, चिकने तथा गहरे भूरे रंग के होते हैं।

इसके मूल का अधिक उपयोग किया जाता है। इसके पुष्प, पत्र एवं बीज आदि का भी उपयोग करते हैं।

रासायनिक संगठन—इसकी जड़ की छाल में स्टार्च, टैनिन, राल तथा ११% राख होती है। बीज में तैल, कड़ुवी भूरे रङ्ग की राल तथा ६% राख होती है।

गुण और प्रयोग—इसकी जड़ भेदन, मूत्रल एवं वेदनास्थापन है। इससे वमन भी होता है। वमन के साथ-साथ पेट में दर्द होकर विरेचन भी होता है। कमी-कमी वमन नहीं भी होता। इसके बीज जलप की तरह किन्तु सौम्य भेदन तथा अल्प मूत्रजनन हैं। विरेचन के लिये बीजों के साथ सोंठ एवं सैधव का उपयोग किया जाता है।

इसका उपयोग उदर, कफविकार, उजर, मूत्रविकार, गलगण्ड, गण्डमाला, अपची, शोथ, नेत्ररोग, उन्माद, आमवात, कुष्ठ एवं विष में किया जाता है।

(१) सभी प्रकार के जलोदर में विरेचन के लिये इसका उपयोग करते हैं। इससे विष का निहरण होता है।

(२) शुक्रमेह, बस्तिशोथ एवं मूत्रकुच्छ में इसकी जड़ का फांट पिलाया जाता है।

(३) बच्चों के कास-श्वास में बीजों को सेंक पीसकर थोड़ा गुड़ एवं सैधव मिलाकर पिलाने से दस्त के साथ कफ निकल कर आराम मिलता है। कफ विकारों में मूल को दूध के साथ पिलाते हैं।

(४) अर्थावभेदक में श्वेत अपराजिता की जड़ के स्वरस का नस्य कराया जाता है।

(५) इसके पत्तों का रस, आर्द्रकरस के साथ पसीना रोकने के लिये देते हैं। स्वरोगों में पत्तों का फांट पिलाते हैं। कान के चारों तरफ सूजन होकर ग्रन्थियों की वृद्धि होने पर पत्तों को सैधव के साथ पीसकर लगाते हैं।

(६) सर्पविष में इसकी जड़ की छाल तथा निर्गुण्डी मूलत्वक् को जल में पीस कर पिलाने से लाभ होता है। (च० चि० अ० २५)

मात्रा—मूलत्वक् चूर्ण १॥-३ माशा; बीजचूर्ण १०-२० र०।

अथ सिन्दुवारः (मेडडी-सेन्दुवार) निर्गुण्डी (नीलसम्हालू) इति च तयोर्नामानि गुणांश्चाह

सिन्दुवारः श्वेतपुष्पः सिन्दुकः सिन्दुवारकः ।

नीलपुष्पी तु निर्गुण्डी शेफाली सुवहा च सा ॥ ११३ ॥

सिन्दुकः स्मृतिदस्तिकः कषायः कटुको लघुः ।

केश्यो नेत्रहितो हन्ति शूलशोथाममास्तान् । कृमिकुष्ठारुचिरलेष्मज्वरान्नीलापि तद्विधा ॥

सम्हालू जिसे लोक में मेडडी तथा सेन्दुवार कहते हैं, उसके भेद, नाम तथा गुण—सम्हालू दो प्रकार का होता है एक सफेद फूल वाला, दूसरा नीले फूल वाला । सफेद फूल वाले सम्हालू के संस्कृत नाम—सिन्दुवार, सिन्दुक और सिन्दुवारक ये सब हैं । नीले फूल वाले सम्हालू के संस्कृत नाम—निर्गुण्डी, शेफाली और सुवहा ये सब हैं । सम्हालू—(सफेद फूल वाला) स्मरण-शक्तिवर्धक, तिक्त, कषाय और कटुरसयुक्त, लघु, केश तथा नेत्र के लिये हितकारी होता है एवं यह शूल, शोथ, आमवात, कृमि, कुष्ठ, अरुचि और कफ-ज्वर को नष्ट करता है । इसी भांति नीले फूल वाले सम्हालू को भी गुण हैं ॥ ११३-११४ ॥

अथ सिन्दुवारपत्रगुणानाह

सिन्दुवारदलं जन्तुवातरलेष्महरं लघु ॥ ११५ ॥

सम्हालू के पत्तों के गुण—सम्हालू के पत्ते—कृमि, वात और कफ को दूर करने वाले तथा लघु होते हैं ॥ ११५ ॥

नोट—सम्हालू के दो भेदों का भावप्रकाशकार ने वर्णन किया है । 'निर्गुण्डी' यह नीले सम्हालू के लिये कहा गया है । निर्गुण्डी का ही पर्याय शेफाली दिया गया है । ४० नि० ने 'सिन्दुवार' के श्वेत एवं नीले भेद दिये हैं तथा 'शेफालिका' के भी निर्गुण्डी (नीलपुष्प) एवं शुद्धा ये भेद दिये हैं । इसी प्रकार १० नि० एवं ४० नि० ने भी शेफाली से नीले (निर्गुण्डी) का ग्रहण किया है । श्री डा० बलवन्त सिंहजी शेफालिका यह नाम हरसिंगार (*Nyctanthes arbortristis*) के लिए उचित समझते हैं । हरसिंगार का वर्णन पहले पृष्ठ ३३५ पर किया गया है ।

कुछ लोगों ने 'नीलनिर्गुण्डी' नाम जस्टिसिया जेन्डारुसा (*Justicia gendarussa*) को दिया है जिसका पृष्ठ ३२३ पर वर्णन किया गया है ।

आधुनिक उद्भिज्जवेत्ताओं ने भी इसके कई भेदों का वर्णन किया है । वाइटेक्स नेगुण्डो (*Vitex negundo*) में श्वेत या हल्के नीले दोनों प्रकार के पुष्प पाये जाते हैं तथा पत्रक भी अखंड या दन्तुर दोनों प्रकार के होते हैं । इसके अतिरिक्त इसका एक भेद वाइटेक्स ट्राइफोलिया (*Vitex trifolia*) भी पाया जाता है । रेणुकबीज, जिनका पृष्ठ २५१ पर वर्णन किया गया है वे भी दौरान में होनेवाली निर्गुण्डी जाति के वृक्षों के फल हैं ।

५१ सम्हालू-निर्गुण्डी

हि०—सम्हालू, सम्हालू, सन्दुवार, सिन्दुवार, मेडडी । बं०—निशिन्दा । म०—लिंगड, निगड, निर्गुण्डी । पं०—वन्न, भरवन, मौरा । गु०—नगोड, नगड । ता०—नोचि । म०—करिनोचि । ते०—वाविली, तेल्लवाविलि । क०—विलिनेचिक । फा०—पंजवगुस्त । अ०—असलक । अं०—
Five Leaved Chaste Tree (फाइव लीव्ड चेस्ट ट्री), Indian Privet (इण्डियन

प्रिवेट) । ले०—*Vitex negundo* Linn. (वाइटेक्स नेगुण्डो लिन.) । Fam. Verbenaceae (बर्बिनेसी) ।

इसके वृक्ष प्रायः सब प्रान्त के वन, उपवन, नदियों के किनारे, गावों के आसपास की परती जमीन में और बागों में भी पाये जाते हैं ।

इसके बड़े बड़े गुलम प्रायः ६-२८ फीट ऊँचे अथवा कभी कभी बड़े वृक्ष के समान होते हैं । इस पर श्वेताम रोमावरण होता है । छाल-पतली, चिकनी तथा धूसरवर्ण की होती है । पत्ते—सदल तथा ३-५ पत्रकों में युक्त होते हैं । पत्रक—मालाकार, लम्बा, अखण्ड या गोल दन्तुर, २-५ इञ्च लम्बे, ३-१३ इञ्च चौड़े तथा छोटे बड़े आकार के होते हैं । अग्र का पत्रक लम्बा एवं उसका वृन्त भी लम्बा होता है । नीचे के पत्रक या बगल वाले पत्रक छोटे तथा छोटे या बिना वृन्त के होते हैं । ये ऊपर से हरे तथा नीचे श्वेतामवर्ण के होते हैं । पुष्प—आयताकार और २-८ इञ्च लम्बी मञ्जरियों में निकले रहते हैं । ये श्वेत या हल्के नीले (वैगनी) रङ्ग के होते हैं । फल—छोटे, गोल, १ इञ्च व्यास के तथा पकने पर काले रङ्ग के होते हैं ।

इसकी जड़ पर एक पराश्रयी वनस्पति पाई जाती है जो एलेक्ट्रा परासिटिका वेर. चित्रकूटेन्सिस (*Alectra parasitica*, A. Rich, Var. *Chitrakutensis*) है । यह वर्षाकाल में होती है तथा अक्टूबर नवंबर तक परिपक्व होने पर इसके कंद को संग्रह कर सुखा कर इसका चूर्ण बना प्रयोग करते हैं । विहार के वैद्य इसको गलितकुष्ठ के लिये उपयोगी बतलाते हैं । प्रारंभिक परीक्षण से देखा गया है कि ४ ग्राम दैनिक विभक्त मात्रा से लाभ होता है । अधिक मात्रा से अतिसारादि उपद्रव होते हैं । (प्रसाद, बी. एन् ; लेप्रसी रिव्यू, जुलाई ६२ खण्ड XXXIII, अंक ३.)

इसकी एक दूसरी जाति होती है जिसे (ले०) वाइटेक्स ट्राइफोलिया लिन. (*Vitex trifolia* Linn.) कहते हैं । इसके पत्ते—२-३ पत्रक होते हैं । पत्रक—२-३ इञ्च लम्बे, सभी अवृन्त, अभिलटवाकार या अभिलटवाकार-आयताकार, अखण्ड तथा किञ्चित् कुण्ठिताग्र होते हैं । पुष्प—हल्के नीले वर्ण के होते हैं । फल—काले रङ्ग के तथा १ इञ्च व्यास में होते हैं ।

इसके पंचांग तथा पत्तों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है । कुछ विद्वानों के मत से दन्तुर पत्र अधिक लाभदायक माने जाते हैं ।

रासायनिक संगठन—इसके पत्तों में एक रंगहीन गन्धयुक्त उड़नशील तैल तथा एक रास होती है । इसके बीजों में अम्ल रास, कषाय आर्गेनिक अम्ल, मॅलिक एसिड, अत्यल्प क्षाराम तथा रंजक द्रव्य होते हैं ।

गुण और प्रयोग—यह कटु, तिक्त, कषाय, उष्ण, लघु, दीपन, वेदनास्थापन, वातहर, कफहर, ज्वरघ्न, मूत्रजनन, आर्तवजन, कृमिघ्न, मस्तिष्कबलदायक, शोथघ्न, विषहर, बन्ध एवं रसायन है । शोथघ्न, वेदनास्थापन एवं वातहर गुण बहुत प्रभावशाली हैं । इसके पुष्प शीतल तथा पित्तनाशक हैं । (सु. सू. अ. ४६)

इसका प्रयोग आमवात, वातव्याधि, कास, ज्वर, प्रदर, शूल, अपचन, आध्मान, अपचो, क्षय, कुष्ठ, शोथ, व्रण, प्लोहावृद्धि एवं कृमि में किया जाता है । सभी प्रकार के रोगों में शिलाजतु के साथ इसका प्रयोग लाभदायक होता है ।

(१) शोथयुक्त सभी व्याधियों में यह बहुत ही लाभदायक है । फुफ्फुसशोथ, फुफ्फुसावरण-शोथ, उदरावरणशोथ, किसी प्रकार का संभिशोथ, तीव्र आमवातिक संभिशोथ एवं सोजाक में कभी-कभी होनेवाले अंडशोथ में इसका अन्तर्वाह प्रयोग करते हैं । इसके पत्तों को पीसकर हॉर्डी में

गरम कर शोथ पर दिन में ३, ४ बार बाँधना चाहिये। इसके साथ करज, नीम तथा धतूरे के पत्तों का भी उपयोग करने से अधिक लाभ होता है। निर्गुण्डी में आनुलोमिक गुण न होने के कारण शोथ में प्रारंभ में नागदन्ती या रसकपूर जैसे विरेचक औषध का उपयोग करना चाहिये।

(२) कफज्वर, फुफ्फुसपाक तथा फुफ्फुसावरणशोथ आदि में इसके पत्तों का स्वरस या काथ छोटी पीपल के साथ पिलाते हैं तथा पत्तों से सेकते हैं। प्रतिश्याय तथा गले के शोथ में इसके सूखे पत्तों का धूम्रपान कराया जाता है तथा पत्तों का काथ छोटी पीपल एवं घोडबच के साथ पिलाते हैं। कास में पत्रस्वरससिद्धघृत का उपयोग लाभदायक है। राजयक्ष्मा में इसके पंचांग के स्वरस से सिद्ध घृत या स्वरस में घृत मिलाकर प्रयोग करते हैं।

(३) आमवात में निर्गुण्डी, तुलसी एवं भँगरैया का स्वरस अजवायन के चूर्ण के साथ देते हैं तथा पत्तों से सेकते हैं। गृध्रसी में नीले पुष्पवाली निर्गुण्डी के पत्तों का काथ पिलाते हैं तथा पत्तों से सेकते हैं।

(४) शीतज्वर, विषमज्वर एवं सूतिकाज्वर आदि में इसके पत्तों का चूर्ण, पंचांगस्वरस, फांट या क्वाथ को देते हैं तथा इसके क्वाथ से शरीर पोंछते हैं। इससे शरीर का दाह एवं दुर्गन्धि कम होती है। विषमज्वर में प्लीहावृद्धि होने पर इसके पत्र एवं हरीतकी को गोमूत्र के साथ देते हैं या पत्तों को कुटकी एवं रसौत के साथ देते हैं। सूतिकाज्वर में इससे आर्तवशुद्धि होती है तथा गर्भाशय एवं उसके आसपास के अङ्गों का शोथ भी कम होता है। इसमें आन्तरिक प्रयोग के साथ इसके पत्तों को गरम करके बाँधते हैं। ज्वर में वमन तथा तृषाशान्ति के लिये इसके पुष्प मधु के साथ खिलाते हैं।

(५) नहरुवा कृमि में इसको खिलाते हैं तथा इससे सेकते हैं।

(६) इसके मूल एवं पत्रस्वरस से सिद्ध तैल का शोथ, व्रण, नाडीव्रण, कुष्ठ, अपची, गंडमाला तथा सन्धिपीडा में व्यवहार किया जाता है। कर्णपूय में मधु के साथ इस तैल को कान में डालते हैं।

(७) सोजाक में पेशाब रुकने पर इसके उष्ण क्वाथ में रोगी को बैठाते हैं।

(८) पाँव की जलन में पत्तों को बाँधते हैं। शिरःशूल में पत्तों को पीसकर सर पर बाँधते हैं तथा फलों के चूर्ण का नस्य देते हैं। सोते समय सर के नीचे पत्तों की तकिया भी रखते हैं।

(९) कौड़े आदि से रक्षा करने के लिये चावल, कपड़े तथा पुस्तकों में इसके पत्ते रखते हैं।

मात्रा—पत्रस्वरस १-२ तो०; पत्रचूर्ण ३-३ तो०; मूलत्वक् १-२ मा०।

अथ कुटजः (कुडा-कोरैया) तस्य नामगुणानाह

कुटजः कूटजः कौटो वस्सको गिरिमल्लिका ॥ ११६ ॥

कालिङ्गः शक्रशाखी च मल्लिकापुष्प इत्यपि । इन्द्रो यवफलः प्रोक्तो वृक्षकः पाण्डुरद्रुमः ॥

कुटजः कटुको रूचो दीपनस्तुवरो हिमः । अशोऽतिसारपित्तास्रकफवृष्णाऽऽमकुष्ठसुप्त ॥

कुडा के नाम तथा गुण—कुटज, कूटज, कौट, वस्सक, गिरिमल्लिका, कालिङ्ग, शक्रशाखी, मल्लिकापुष्प, इन्द्र (इन्द्र पर्यायवाचक समो शब्द), यवफल, वृक्षक और पाण्डुरद्रुम ये सब कुडा के संस्कृत नाम हैं।

कुडा—कटु तथा कषायरसयुक्त, रूक्ष, अग्निदीपक और शीतवीर्य होता है। एवम यह ववासीर, अतिसार, पित्त, रक्त, कफ, तृषा आम तथा कुष्ठ को दूर करता है ॥ ११६-११८ ॥

५२ कूड़ा

हि०—कूड़ा, कोरथा, कुड़ा, कौरैयाँ, कुरैय्याँ। ब०—कुरचि। म०—पांडरा कुड़ा। गु०—कडो। क०—कोरासिभिन। ते०—काककोडिसे, पला कोडसा। उ०—कुड़िया। ता०—वेप्यालै, कोडगपल। मल०—वेनपाला। फा०—जवाने गुजस्वे तल्ल। अ०—लसनुछास फिरलमुर्द, तिवाज। अं०—Kurchi, Conessi or Tellicherry Bark (कुचि, कोनेसि या तेल्लिचरि बार्क)। ले०—*Holarrhena antidyenterica* Wall. (होलेहेना एन्टिडिसेन्टेरिका वाल)। Fam. Apocynaceae (एपोसाहनेसी)।

यह मारतवर्ष के प्रायः सभी भागों में आर्द्र भूमि को छोड़कर तथा हिमालय की ४००० फीट ऊँची चोटियों पर उत्पन्न होता है। इसके छोटे छोटे वृक्ष दून और सहारनपुर के जङ्गलों में बहुत होते हैं। कहीं कहीं इसको रोपित भी किया जाता है।

कूड़े का वृक्ष बहुत ऊँचा नहीं होता, प्रायः ८-१० हाथ ऊँचा वृक्ष देखने में आता है। छाल—चौथाई इञ्च तक मोटी, खुरदरी, भूरे रंग की होती है। लकड़ी हल्की पीली और कोमल होती है। पत्ते—५-१० इञ्च लम्बे तथा २-४ इञ्च चौड़े, नोकीले, लटवाकार-अण्डाकार या कुछ आयताकार चिकने या मृदुरोमश एवं प्रधान शिराएँ १०-१४ युग्म होती हैं। फूल—सफेद आते हैं और उनमें कुछ सुगन्धि जान पड़ती है। फलियाँ—दो दो एक साथ परन्तु असंयुक्त, ८ से १६ इञ्च तक लम्बी, पतली, तिहाई इञ्च मोटी और कुछ टेढ़ी होती हैं। बीज—जई के समान आध इञ्च तक लम्बे, रेखाकार, आयताकार और अन्त के सिरे पर प्रायः हल्के भूरे रङ्ग के रोमगुच्छ से युक्त होते हैं। इन्हें इन्द्रजव कहते हैं, और वे स्वाद में कड़वे होते हैं। इन्द्रजव तथा इसकी आर्द्र छाल का विशेष व्यवहार किया जाता है। इसी वृक्ष को श्वेत कुटज या पुंकुटज कहा जाता है तथा गुण में यह 'प्रतिनिधि तथा व्यामिश्रण' में लिखित राइटिया टिन्क्टोरिया, सं०—कृष्ण कुटज या लीकुटज जिसके बीजों को मीठा इन्द्रजव कहते हैं उससे उत्कृष्ट है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल एवं बीजों में अनेक प्रकार के क्षाराम (Alkaloids) पाये जाते हैं जिनमें कोनेसाइन (Conessine, C₂₄H₄₀N₂), कुचिन (Kurchine, C₂₃H₃₈N₂), कुचिसीन (Kurchicine, C₂₀H₃₆ON₂) तथा होलेहेनाइन (Holarrhene, C₂₄H₃₈ON₂) आदि मुख्य हैं। इसकी छाल में सम्पूर्ण क्षारामों की अधिकतम मात्रा ४.५% से अधिक नहीं होती तथा बीजों में यह छाल की अपेक्षा कम होते हैं। प्रायः छाल में १.५% और बीज में ०.२५% यह रहते हैं।

इसके विभिन्न क्षारामों का प्रयोग जानवरों पर तथा मनुष्यों में किया गया है तथा उसके परिणामों का अध्ययन किया गया है जिसमें सम्पूर्ण क्षाराम अधिक उपयोगी सिद्ध हुआ है।

(१) सम्पूर्ण क्षाराम (Total alkaloids)—नवीन आमातिसार (Acute Amoebic Dysentery) में इसकी ३/२० (१ ग्रैन) की मात्रा में प्रतिदिन पेइयन्तर्ध सूचिकाभरण करने से एमेटिन (Emetine) की अपेक्षा अधिक लाभ हुआ। एमेटिन के समान इससे कोई विषैला प्रभाव जैसे अवसाद (Depression), वमन, प्रक्षोभ (Irritation) एवं संचायि (Cumulative) प्रभाव नहीं हुआ। इसको प्र. दि. १/२० (२ ग्रैन) की मात्रा में भी सूचिकाभरण करने से एमेटिन के समान शारीरिक वा मानसिक किसी भी प्रकार का अवसाद (Depression) नहीं होता। सिवाय अत्यधिक मात्रा के इसका गर्भाशय पर कोई विषैला प्रभाव नहीं पड़ता। इसके सूचिकाभरण के स्थान पर केवल कुछ पीडा एवं सजन हो जाती है जो २४ से ४८ घण्टे में दूर हो जाती है। इससे कोई स्थानिक कोथ (Necrosis) या रक्तस्राव नहीं होता जैसा एमेटिन में होता है। पुराने रोगियों में इसके सूचिकाभरण से विशेष लाभ नहीं होता।

(२) कुरची बिस्मथ आयोडाइड (Kurchi bismuth iodide) — यह नारंगी लाल रंग का चूर्ण होता है। इसमें २०% सम्पूर्ण क्षाराम तथा २२.८५% बिस्मथ तथा आयोडीन (Iodine) ५०.१५% रहता है। पुराने आमातिसार (Chronic Amoebic Dysentery) में इसका मुख द्वारा प्रयोग लाभदायक है। इसको ५ र० (१० ग्रेन) दिन में दो बार १० से २० दिन तक दिया जाता है। इससे नाड़ी की गति, वेग, बल एवं रक्त के दबाव पर कोई दुष्परिणाम नहीं होता। हृद्-विकारों के रोगियों में भी इसके देने से कोई विषैला प्रभाव नहीं दिखलाई देता। एमेटीन के समान वमन, अतिसार आदि अन्य प्रक्षोभक उपद्रव भी इसके प्रयोग से नहीं होते न कोई संचायि (Cumulative) प्रभाव ही होता है। इसके सेवन से ३ घंटा पूर्व क्षारीय मिश्रण देना चाहिये क्योंकि प्रायः अतिसार में पाखाने की प्रतिक्रिया अम्ल होती है जिसमें कुरची कम प्रभावशाली होती है। उपर्युक्त सूचिकामरण के साथ इसका प्रयोग किया जा सकता है अथवा इसके साथ एमेटीन की सूर्ध भी दी जा सकती है। इन क्षारामों का प्रभाव अमीबाजन्य यकृत विकृति पर अभी निश्चित नहीं हुआ है।

(३) कोनेसाइन (Conessine) — इस क्षाराम को भी सूचिकामरण द्वारा दिया जा सकता है लेकिन इसकी अपेक्षा संपूर्ण क्षाराम का प्रयोग करना अधिक अच्छा है। जानवरों में प्रयोग से मालूम हुआ है कि यह हृदय, श्वसन-संस्थान तथा मस्तिष्क के लिये हानिकर है। यह २८०,००० में १ हिस्से के अनुपात में भी अमीबा के लिये क्षारीय घोल में ८ मिनट में तथा बिना क्षारीय घोल में १८ मिनट में घातक है जब कि एमेटीन २००,००० में १ भाग में घातक होती है। इसके सूचिकामरण से भी संपूर्ण क्षाराम के समान स्थानिक प्रतिक्रिया होती है लेकिन जानवरों के समान मनुष्यों में कोई विशेष विषैला प्रभाव नहीं पड़ता। एक विशेष महत्त्व की बात यह है कि यह क्षाराम परख नली (In vitro) में क्षय दण्डाणु (Tubercle bacillus) को वृद्धि रोकने में समर्थ है।

गुण और प्रयोग—इसकी आर्द्र छाल कड़वी, अग्निदीपक, पाचक, आग्नी, अतिसारहर, ज्वरहर एवं रक्तसंग्राहक है।

इसका प्रयोग रक्तातिसार, संग्रहणी, प्रवाहिका, ज्वरातिसार, जीर्णज्वर, पचन संस्थान के अनेक विकार, श्वास एवं श्वाशरु आदि रोगों में किया जाता है। इसकी पुटपाक, अवलेह, काथ, फांट, चूर्ण या अरिष्ट के रूप में व्यवहार में लाते हैं। सुगन्धि, संग्राही तथा अतिसार-नाशक अन्य औषधियों के साथ इसके काथ या चूर्ण का प्रयोग लाभदायक है। इसकी छाल को खट्टे मट्टे के साथ पीस कर लेने से अधिक गुण होता है। यह बच्चों एवं गर्भिणी में बिना किसी भय के दी जा सकती है।

(१) अतिसार की किसी भी अवस्था में यह औषधि बहुत लाभदायक सिद्ध हुई है। विशेष कर रक्तातिसार तथा पुराने आमातिसार (Chronic amoebic dysentery) में इसके प्रवाही सत्व (Liquid extract) का स्वतंत्र प्रयोग या उसके साथ इसबगोल, परंड तैल या इन्द्रजव आदि को देने से बहुत लाभ होता है। इसके काथ या फांट के साथ अतीस, बोडबच या मोचरस मिलाकर दे सकते हैं। एमेटीन के सूचिकामरण के साथ इसको मुख द्वारा लेने से अधिक लाभ देखा गया है। इससे बनी हुई औषधियाँ जैसे कुचिसॉल (Kurohisol), कुचिकारड (Kurohi-loid), कुचिकार्क एक्स्ट्राक्ट (Kurohi bark extract) आदि डाक्टरी दुकानों में विकती हैं जिनका प्रयोग सुगम है एवं उनके क्षारामों की मात्रा भी निश्चित रहती है। कुटज पपिकाकु-आन्हा के समान कार्यकर औषधि है तथा इसमें इसके कुछ भी दोष नहीं हैं। आयुर्वेदिक रोगों में

अवलेहादि के अतिरिक्त कुटजाष्टक काथ (शाङ्ग.) एवं पाठाथ चूर्ण (चक्र.), लघु एवं वृद्ध गंगापत्र चूर्ण आदि उपयोगी हैं।

(२) प्रसूति के पश्चात् योनिमार्ग की शिथिलता दूर करने के लिए इसका प्रयोग किया जाता है।

(३) जीर्ण ज्वर में इसका प्रयोग लाभदायक सिद्ध हुआ है। इससे सिनकोना की तरह वमन, हृत्तास, शिरःशूल आदि नहीं होता।

(४) इसकी कोमल फली तथा पत्रों की साग बच्चों में केचुवें की बीमारी में देते हैं।

(५) इसका लेप आमवात एवं संधिशोथ में लाभदायक है तथा जलशोथ में इसके चूर्ण को शरीर पर मला जाता है।

(६) दन्तशूल में इसके काथ से कुल्ला करने से लाभ होता है।

मात्रा—त्वक् चूर्ण १-४ मा; त्वक् चूर्ण १-४ तो. काथ बना कर; फांट (१० में १) १ से २ औंस; प्रवाहीसत्व ६०-१२० बूंद; कुचि बिस्मथ आयोडाइड ४ ग्रा. दि. प्र. दि. २ हफ्ते तक।

नोट—इन्द्रजव प्रकरण भी देखें।

प्रतिनिधि और व्यामिश्रण—(क) राइटिया (Wrightia) की विभिन्न उपजातियाँ जैसे—रा० टिन्टोरिया, रा० टोमेन्टोसा, (W. tinctoria R. Br.; W. tomentosa Roem. & Schult.) विशेषकर रा० टिन्टोरिया का गलती से अथवा मिलावट के रूप में कुटज के स्थान पर प्रयोग किया जाता रहा लेकिन इनमें कार्यकारी औषधि गुण बहुत ही अल्प मात्रा में रहते हैं। इसके वृक्ष छोटे तथा इसकी छाल लाल-भूरे रंग की करीब-करीब चिकनी होती है। इसके मूल गहरे भूरे रङ्ग के या काले तथा कुटज से कम कडुवे होते हैं। इसके पत्र कुटज से छोटे होते हैं। इसके पुरुष श्वेत चमेली की तरह तथा सुगन्धित होते हैं। फलियाँ दो-दो एक साथ अग्रपर परस्पर जुड़ी हुई (फटने के समय दोनों अलग), ३-१२ इञ्च लम्बी और पृष्ठ पर सफेद दागों से युक्त होती हैं। बीज ३ से ३ इञ्च लम्बे, आधार के निचले सिरे पर श्वेत रेशमी तूल गुच्छ से युक्त एवं अन्त में नुकीले होते हैं। संस्कृत में इसको असित कुटज या खीकुटज कहते हैं तथा इसके बीजों को हिन्दी में भीठा इन्द्रजव कहा जाता है।

गुण और प्रयोग—अल्प मात्रा में इससे आमाशय तथा यकृत की क्रिया सुधरती है लेकिन अधिक मात्रा से वमन तथा विरेचन होता है।

(१) इसके पत्तों का स्वरस ३ चम्मच की मात्रा में कर्नाटक, तेलगुप्रांत और मद्रास की तरफ कामला के लिये बहुत व्यवहार में आता है।

(२) सड़े हुये दाँत के गढ़े के अन्दर इसके पत्तों को पीसकर रखने से दन्तशूल दूर होता है लेकिन यह मसूड़े तथा गाल में नहीं लगाना चाहिये, अन्यथा इससे दाह उत्पन्न होता है।

(३) इसके पत्तों तथा छाल का काथ अन्य कडुवी औषधियों के साथ दीपक, पाचक, बन्ध तथा ज्वरहर है। इसका उपयोग ज्वर के पश्चात् अथवा अन्य तीव्र रोगों की संनिवृत्तावस्था में एवं पचनसंस्थान के विकारों (Bowel complaints) में किया जाता है।

(४) भीठा इन्द्रजव बलवर्धक है तथा धातुपौष्टिक के रूप में इसका प्रयोग किया जाता है।

अथ कण्टककरञ्जघृतकरञ्जौ। (करञ्ज-करञ्जमेद)। तयोर्नामानि गुणांश्चाह
करञ्जो नक्तमालश्च करञ्जश्चिरबिस्वकः। घृतपूर्णकरञ्जोऽन्यः प्रकीर्यः पृत्तिकोऽपि च ॥ ११९ ॥
स चोक्तः पृत्तिकरञ्जः सोमवसकश्च स स्मृतः।

करञ्जः कटुकस्तीक्ष्णो वीर्योष्णो योनिदोषहृत् ।
कुष्ठोदावर्त्तगुल्मशोत्रणमिमिकफापहः ॥ १२० ॥

करञ्ज के भेद, नाम तथा गुण—करञ्ज के दो भेद होते हैं—१ कण्टककरञ्ज, २ घृतकरञ्ज । 'कण्टककरञ्ज' के संस्कृत नाम—करञ्ज, नक्तमाल, करञ्ज और चिरविल्वक ये सब हैं । 'घृतकरञ्ज' के संस्कृत नाम—प्रकीर्य, पूतिक, पूतिकरञ्ज और सोमवल्क ये सब हैं । करञ्ज—कटुरसयुक्त, तीक्ष्ण, उष्णवीर्य, योनिदोष को दूर करने वाढा तथा कुष्ठ, उदावर्त्त, गुल्म, बवासीर, व्रण, कृमि तथा कफ का नाशक होता है ॥ ११९-१२० ॥

अथ करञ्जपत्रफलगुणानाह

तरपत्रं कफवाताशःकृमिशोथहरं परम् । भेदनं कटुकं पाके वीर्योष्णं पित्तलं लघु ॥ १२१ ॥
तत्फलं कफवातघ्नं मेहार्शःकृमिकुष्ठजित् । घृतपूर्णकरञ्जोऽपि करञ्जसदृशो गुणैः ॥ १२२ ॥
करञ्ज के पत्ते तथा फलों के गुण—करञ्ज के पत्ते कफ, वायु, बवासीर, कृमि तथा शोथ को अत्यन्त नष्ट करने वाले होते हैं । ये मूल को भेदन करने वाले, पाक में कटुरस युक्त, उष्णवीर्य, पित्तजनक तथा लघु होते हैं । इसके फल—कफ, वात, प्रमेह, बवासीर कृमि और कुष्ठ नाशक होते हैं । घृतकरञ्ज के गुण भी करञ्ज के समान ही हैं ॥ १२१-१२२ ॥

नोट—भावप्रकाशकार करञ्ज के ३ भेद १. करञ्ज (नक्तमाल, चिरविल्व), २. घृतकरञ्ज (प्रकीर्य, पूतिकरञ्ज, सोमवल्क) एवं ३ करञ्जी (उदकीर्य, षडग्रन्था, इस्तिवारुणी) लिखते हैं जिनमें से प्रथम दो के गुण समान लिखे हैं । अन्य निघण्टुकारों ने भी इसके कई भेदों का उल्लेख किया है किन्तु इनके पर्यायवाची नामों के कारण भ्रम उत्पन्न होता है । उन्हीं नामों को किसी ने एक के साथ जोड़ा है तो किसी ने दूसरों के साथ जोड़ा है । इस तरह यह कहना कठिन है कि जिसे भावप्रकाशकार करञ्ज लिखते हैं उसी को अन्य निघण्टुकारों ने करञ्ज माना है या जिसे वे घृतकरञ्ज एवं करञ्जी लिखते हैं उसे ही अन्य निघण्टुकारों ने भी घृतकरञ्ज एवं करञ्जी माना है ।

आधुनिक विद्वानों ने भी (वृक्ष) करञ्ज, कण्टकरञ्ज एवं चिरविल्व नाम से इसके ३ भेदों का वर्णन किया है । भावप्रकाशकार चिरविल्व करञ्ज का पर्याय मानते हैं । कुछ विद्वान् उदकीर्य नाम करञ्ज को देते हैं जो यहाँ करञ्जी के लिये आता है । प्रकीर्य नाम कण्टकरञ्ज के लिये कहा जाता है । यहाँ पर वृक्ष करञ्ज एवं लताकरञ्ज का स्वतन्त्र वर्णन किया गया है तथा करञ्जी के अन्तर्गत चिरविल्व का वर्णन किया गया है ।

५३ करञ्ज (वृक्ष करञ्ज)

सं०—करञ्ज, नक्तमाल, उदकीर्य । हिं०—करञ्ज, करञ्जवा, किरमाल, पापर, दिठोरी । बं०—डहर करञ्जा । म०—करञ्ज । गु०—कण्डी, करञ्ज । पं०—सूचचेहन । ता०—पुंगम्, पुंऊ । ते०—पुंगु, कान्तुचेट्टु । मला०—पौत्रम्, उत्रेमरम् । कं०—होंगे । अं०—Smooth Leaved Pongamia (स्मूथ लीव्ड पोंगामिया), Indian Beech (इण्डियन बीच) । ले०—Pongamia glabra Vent. (पोन्गामिया ग्लैब्रा वेण्ट.) । Fam, Leguminosae (लेगुमिनोसी) ।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है । सड़कों के किनारे, बगीचों में एवं नदी तथा समुद्री किनारों पर यह बहुत पाया जाता है । इसका वृक्ष साधारण वृक्षों की ऊँचाई का होता है और सदा हरा-भरा रहता है । इसकी छाया ठण्डी और प्रिय होती है । शाखायें लटकी हुई

होती हैं । पत्ते—पक्षवत्, ८-१४ इञ्च लम्बे एवं पत्रदण्ड आधार पर फूला हुआ होता है । पत्रक—हरे रङ्ग के चमकीले, चिकने, संख्या में ५-७, आयताकार या लट्वाकार, मुकीले, २-५ इञ्च लम्बे एवं छोटे घृन्त से युक्त होते हैं । फूल—जरा गुलाबी और आसमानी छाया लिये हुये श्वेतवर्ण के गुच्छों में आते हैं । एक दलपत्र बड़ा होता है जो अन्य चार दलपत्रों को ढक कर रखता है । सूखने के पहिले ही असंख्य संख्या में पुष्प जमीन पर गिर कर भूमि को आच्छादित कर देते हैं । फलियाँ—चिकनी, चिपटी, कठोर, एक बीजयुक्त, गहरे धूसर रङ्ग की तथा १-२ इञ्च लम्बी सेम के आकार की होती हैं । बीज—चिपटे कृष्णम रक्त वर्ण के कुष्ठ सिकुडनदार गोलाई लिये आयताकार एवं तैल युक्त होते हैं ।

इसके पत्र, कांड एवं मूल को त्वचा, तैल एवं बीजों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है । बीजों का तैल जलाने के काम में आता है ।

रासायनिक संगठन—इसके बीजों में २७-३६% एक कड़वा, भूरे रङ्ग का एवं विशिष्ट गन्ध का तैल पाया जाता है । इसे पोन्गेमॉल (Pongamal) या होंगे तैल (Hongay oil) कहते हैं । इस तैल से करंजीन (Karanjin, $C_{18}H_{12}O_4$) नामक एक रवेदार पदार्थ प्राप्त किया गया है । बीजों में अत्यल्प मात्रा में उबनशील तैल रहता है । इसकी छाल में एक क्षाराय एवं हरिताम भूरे रंग की अम्लस्वभावी राल पाई जाती है ।

गुण और प्रयोग—करञ्ज कुष्ठघ्न, आमवातघ्न, कृमिघ्न, व्रणरोपण, कासहर, पाचन एवं त्वचा के रोगों में लाभदायक है ।

(१) इसके बीजों का तैल बहुत अच्छा कृमिघ्न, पराशयी जीवाणुनाशक तथा व्रणरोपक है । खुजली (Scabies) के लिये यह बहुत उपयोगी है । यह दद्रु, पामा, विचर्चिका, विसर्प, सर की खुजली, परिसर्प (Herpes) आदि त्वचा के रोगों में एवं संघिवात में लाभदायक है । त्वचा के रोगों में इसके साथ समान मात्रा में नींबू का रस मिलाकर लगाते हैं ।

(२) नाटिक पीढा, आमवात तथा संघिवात में इसके पत्तों के काथ से सेंकते हैं तथा इसके बीजों के तैल में मालिश करते हैं ।

(३) दुर्गन्धयुक्त व्रण को शुद्धि के लिए तथा नाडीव्रण के पूरण के लिये इसके मूल का स्वरस लगाते हैं ।

(४) सोजाक में इसके जड़ का स्वरस, नारियल का दूध एवं चूने का जल मिलाकर देते हैं ।

(५) इसके बीजों का चूर्ण ज्वरहर तथा बन्ध मानते हैं । कुकास एवं अन्य प्रकार की खाँसी में इसके बीज को घिसकर देने से लाभ होता है ।

(६) इसके पत्तों को अपचन, अतिसार, आध्मान तथा गुल्म में खिलाते हैं । इससे उदरशूल कम होता है एवं अन्न का पाचन भी ठीक होता है । शीतपित्त में पत्र-स्वरस, दही, नमक एवं कान्जी मिर्च को साथ देते हैं ।

(७) मधुमेह में इसके पुष्पों का फाण्ट पिलाते हैं । खालित्य में पुष्प पीस कर सर पर बाँधते हैं ।

(८) व्रणशोथ पर इसके पत्तों को निगुण्डी के पत्तों के साथ पीस कर बाँधने से सूजन कम हो जाती है ।

(९) रक्तार्श में इसके मूल को गोमूत्र में पीस कर पिलाते हैं तथा पथ्य में तक्र देते हैं ।

मात्रा—बीज ३-२३ रत्ती बच्चों को, १ माशा बड़ों को;

मूलस्वरस ३ माशा; छाल १-३ माशा ।

५४ करंज (कंट करंज)

सं०-पूतिकरंज, लताकरंज, कण्टकिकरंज, विटपकरंज, कुबेराक्ष, प्रकीर्ये। हिं०-करंज, करंजवा, करंजुआ, कंटकरंज (जा), कांजा, करंजु, कट्कलेजा, सागरगोटा। बं०-काँटा करंजा, नाटा करंजा, नाटा। म०-सागर गोटा, गजा, गजरघोटा, गाजगा। गु०-कांचका, कांक। क०-गज्जिकेकायि। ते०-गच्चकाय। ता०-कझ शिके। मला०-कलंचिकुर। फा०-खाये इब्लोस। अ०-अक्तमक्त, इज्जुलविलादत। अं०-Bonduc nut (बण्डकू नट); Physio nut (फिझिकू नट); Fever nut (फीवर नट)। ले०-Caesalpinia bonducella Fleming (सिसल्पिनिआ बण्ड्युसेल्ला फ्लेमिंग); C. orista Linn. (सि. क्रिस्टा लिन.)। Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी)।

यह भारतवर्ष, बर्मा एवं लंका के उष्ण प्रदेशों में विशेषकर समुद्री किनारों पर तथा पहाड़ियों पर २५०० फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है। यह बंगाल तथा दक्षिण में बहुत होता है। इसे खेत और बागों की मेंड पर लगाते हैं।

इसके सघन एवं विस्तृत कटिदार गुल्म या लता होती है। शाखाएँ-फैली हुई तथा आरोहणशील होती हैं। इन पर सीधे, तीक्ष्ण तथा पीले रंग के काँटे होते हैं। छोटी शाखाएँ वनरोमश होती हैं। उपपत्र (Stipules) ६-८ जोड़े, २-३ इंच लंबे तथा पत्र के आधार पर रहते हैं। पत्ते-संयुक्त द्विपक्षाकार तथा १-२ फीट लंबे होते हैं। पत्रदण्ड के काँटे टेढ़े होते हैं। पत्रक-६-९ जोड़े, ३-३ इंच लंबे, ३-१ इंच चौड़े, मुलायम, पतले, लट्वाकार, आयताकार, रोमश कुण्ठिताग्र, ऊपर से चिकने किन्तु अधो पृष्ठ गृदुरोमश एवं अत्यन्त सूक्ष्म घृन्त से युक्त होते हैं। पुष्प-इसके पीले तथा लंबी मंजरियों में होते हैं। फलियाँ-चौड़ी, आयताकार, २-३ इंच लंबी, करीब २ इंच चौड़ी, १-२ बीजों से युक्त और ऊपर से काँटों से ढकी रहती हैं। बीज-संख्या में १-२, गोल या अंडाकार, करीब ३-३ इंच बड़े, सीसे के रंग के चिकने तथा कठोर आवरण वाले होते हैं। बीजों के अन्दर पीताभ श्वेत रंग का गूदा रहता है जो स्वाद में अत्यन्त कड़वा होता है।

बीजों को फूलने तक सेंक कर या केवल फोड़कर अन्दर का गूदा निकालकर काम में लाया जाता है। इसके अतिरिक्त पत्र एवं मूलत्वक का भी चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इसके बीजों में मज्जा करीब ४२% एवं छिलका ५८% होता है।

रासायनिक संगठन-इसके बीजों में बोण्ड्युसिन (Bonduoin, C₂₀H₂₈O₈) नामक एक कड़वा ग्लुकोसाइड चूर्णरूप में पाया जाता है। यह श्वेत रंग का होता है। यह जल में नहीं घुलता किन्तु मद्यसार तथा तैलों में घुल जाता है। इसके अतिरिक्त बीजों में २०-२४% इलके पीले रंग का गाढा दुर्गन्धयुक्त तैल, स्टार्च, शर्करा, सिटोस्टेरॉल (Sitosterol), फाइटोस्टेरॉल (Phytosterol) एवं हेप्टोकोसेन (Heptacosane) ये पदार्थ पाये जाते हैं।

गुण और प्रयोग-इसके बीजों की मज्जा उष्ण, रूक्ष, बल्य, नियतकालिक ज्वर प्रतिबन्धक, ज्वरहर, शोधक, अल्प स्तम्भक, रक्तस्तम्भक, वेदनाहर एवं कृमिघ्न है। इसका उपयोग विषमज्वर, सूतिकाज्वर, शूल, श्वास, वातविकार, चर्मरोग, शोथ एवं व्रण आदि में किया जाता है।

(१) इसके बीज अर्धविसर्गज्वर, साधारणज्वर, संतत ज्वर, शीतज्वर तथा विशेषकर मलेरिया (Malaria) के लिये बहुत ही लाभदायक हैं। बीजों का चूर्ण काली मिरिच के साथ ५-१० रं० की मात्रा में ज्वर आने के पूर्व दिया जाता है। इसे खाली पेट नहीं देना चाहिये। किनीन की तरह ही यह लाभदायक माना जाता है। ज्वर के पश्चात् बल्य रूप में भी इसका प्रयोग करते हैं।

(२) सूतिकाज्वर में या प्रसूतावस्था में बीजों के प्रयोग करने से सभी प्रकार से लाभ होता है। इससे ज्वर कम होता है। गर्भाशय का संकोच होता है, शूल कम होता है, आर्तव शुद्धि होती है एवं यदि कहीं व्रण हुआ हो तो वह भी अच्छा हो जाता है।

(३) उदरशूल में वेदना कम करने के लिये तथा वमन में करीब १ बीज की मज्जा, २, ३ लौंग के साथ देते हैं। शूल में इसका धूपपान भी लाभदायक होता है। अजीर्ण में हींग के साथ इसका उपयोग किया जाता है। कुपचन में मिरिच के साथ इसका चूर्ण मट्ठे के साथ देते हैं। रक्तातिसार में गौंजा के साथ इसका उपयोग किया जाता है।

(४) क्षयज कास तथा श्वास में बीजों का कथ पिळते हैं।

(५) इसके बीजों का चूर्ण परंजपत्र पर डालकर अंडवृद्धि एवं अंडशोथ पर बाँधते हैं तथा इसको खिलते हैं। इसके (पूतिकरंज) पत्तों का स्वरस श्लेष्म में लाभदायक होता है (सु० चि० १९)। बीजों को पीसकर परंज तैल के साथ अन्य प्रकार के शोथ पर भी बाँधते हैं।

(६) बीजों को दबाकर निकाला हुआ तैल मुँह पर के दाग, तारुण्यपिटिका एवं आमवात में लगाया जाता है। कर्णश्लेष्म में इसे डालते हैं। दुष्टव्रण एवं क्षत आदि में इससे लाभ होता है। बीजों को तैल में पकाकर सिद्ध किया हुआ तैल भी इस प्रकार उपयोग में लाया जाता है।

(७) इसकी जड़ एवं पत्ते ज्वरघ्न हैं। इसके पत्तों का स्वरस जीर्णज्वर, शीतपित्त, उपदंश की द्वितीयावस्था में उत्पन्न चर्मविकार, कृमि एवं यकृत विकार में दिया जाता है।

मात्रा-बीजमज्जा ५-१० रं०; मूल ५-१० रं०; पत्रस्वरस १-२ तो०।

अथ करंजी (अरारी) । तस्या नामगुणानाह

उदकीर्यस्तृतीयोऽन्धः षडग्रन्था हस्तिवारुणी ।

मर्कटी वायसी चापि करंजी करभञ्जिका ॥ १२३ ॥

करंजी स्तम्भनी तिक्ता तुवरा कटुपाकिनी ।

वीर्योष्णा वमिपित्तार्शःकृमिकुष्ठप्रमेहजित् ॥ १२४ ॥

करंज के उक्त भेदों से भिन्न एक तीसरा करंज और होता है जिसे करंजी (अरारी) कहते हैं, उसके नाम तथा गुण-उदकीर्य, षडग्रन्था, हस्तिवारुणी, मर्कटी, वायसी, करंजी और करभञ्जिका ये सब करंजी के संस्कृत नाम हैं। करंजी-स्तम्भक, तिक्त तथा कषाय रस युक्त, पाक में कड़ु रस युक्त और उष्णवीर्य होती है। यह-वमन, पित्त, ववासीर, कृमि, कुष्ठ तथा प्रमेह को दूर करने वाली होती है ॥ १२३-१२४ ॥

नोट-यह भी करंज का एक भेद है। पहले वर्णन किये हुए वृक्ष करंज एवं लताकरंज के अतिरिक्त एक तीसरा भेद चिरबिल्व नाम से पाया जाता है जिसका यहाँ वर्णन किया गया है। भावप्रकाशकार चिरबिल्व नाम नक्तमाल के पर्याय में लेते हैं। कुछ लोग उदकीर्य नाम नक्तमाल के लिये उचित मानते हैं जो यहाँ करंजी के पर्याय में आया है।

५५ चिरबिल्व (करंजभेद)

सं०-चिरबिल्व, पूतिकरंज। हिं०-चिलबिल, चिरमिल, पापरी, करंजी, वनचिल्ला। म०-वावल। गु०-कण्णो, चरेल। उडि०-दुरंजा, करंजी। ता०-अयम्। ते०-जविलि क०-रसविज। ले०-Holoptelia integrifolia Planch. (हॉलोपेलिआ इन्टेग्रिफोलिआ प्लेंच)। Fam. Ulmaceae (अलमसी)।

यह हिमालय के निचले प्रदेश, अजमेर, बुंदेलखंड, बिहार, आसाम एवं पश्चिम प्रायद्वीप में प्रायः घाटियों तथा नदियों के किनारे पाया जाता है।

इसके वृक्ष-छोटे या बड़े एवं करंज के समान ही दिखलाई देते हैं। शाखाएँ-लटकी हुई, गुच्छाकार तथा श्वेत रंग की होती हैं। काण्ड-मजबूत होता है। पत्ते-दो कतारों में निकले हुये, अण्डाकार या लट्वाकार, प्रायः (परिपक्व) अखण्ड, २-४.५ इंच लम्बे, १.५-७.७ इंच चौड़े, नोकदार, दुर्गन्ध युक्त एवं बिन्दुकित होते हैं। हरे पत्तों में पारदर्शक बिन्दु होते हैं। शुष्क पत्तों में अधर तल पर छोटे छोटे उमरे हुये बिन्दु दिखाई देते हैं। पुष्प-बहुत छोटे, हरित, शाखाओं के अग्र पर गुच्छों में पतझड़ होने पर निकलते हैं। फल-सपक्ष, चिपटा, प्रायः १ इंच लम्बा, गोल या अण्डाकार एवं नताग्र होता है। फल भेद से इसके ३, ४ भेदों का उल्लेख है। इसके पत्तों एवं काष्ठ में दुर्गन्ध होती है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में लुआबदार पदार्थ बहुत होता है।

गुण और प्रयोग—यह शोथहर, शोणितोत्प्रेषक एवं करंज के समान गुण वाला है। इसकी छाल को उबाल कर उसका लुआव अथवा मूल को पीस कर संधिशोध पर लगाते हैं तथा उबली हुई छाल को ऊपर से बांध देते हैं। इसके पत्तों का कल्क तैल में उबाल कर वह तैल त्रण पर लगाते हैं। दाद पर बीज को जल में घिसकर लगाया जाता है।

अथ गुञ्जा-श्वेता रक्ता च । तयोर्नामगुणानाह

श्वेता गुञ्जोच्चटा प्रोक्ता कृष्णला चापि सा स्मृता ।

रक्ता सा काकचिञ्ची स्यात्काकणन्ती च रक्तिका ॥ १२५ ॥

काकादनी काकपीलुः सा स्मृता काकवल्लरी ।

गुञ्जाद्वयन्तु केश्यं स्याद्वातपित्तज्वरापहम् ॥ १२६ ॥

मुखशोषभ्रमश्वासतृष्णामदविनाशनम् । नेत्रामयहरं वृष्यं बल्यं कण्ठं त्रणं हरेत् ॥ १२७ ॥

कृमिन्द्रलसकुष्ठानि रक्ता च धवलाऽपि ॥ १२८ ॥

सफेद तथा लाल गुञ्जा के नाम तथा गुण—श्वेतगुञ्जा, उच्चटा (श्वेतोच्चटा), और कृष्णला ये सब संस्कृत नाम सफेद गुँघुची के हैं। लाल गुँघुची के संस्कृत नाम—रक्तगुञ्जा, काकचिञ्ची, काकणन्ती, रक्तिका, काकादनी, काकपीलु और काकवल्लरी ये सब हैं। दोनों प्रकार की गुँघुची केश के लिये दितकर, वात, पित्त, ज्वर, मुख का सूखना, भ्रमरोग, श्वास, तृषा, मद तथा नेत्ररोग को नष्ट करने वाली होती है। यह वृष्य, बलकारक तथा खुजली, त्रण, कृमि, इन्द्रज्वर तथा कुष्ठ इन सबों को भी दूर करनेवाली होती है ॥ १२५-१२८ ॥

५६ गुञ्जा (श्वेत, रक्त)

हि०-गुञ्जा, गुंघुची, गुँघुची, चिरमी, चिरमिटी, घुमची, करजनी, रत्ती, चौटली । बं०-कुँच । म०-गुञ्ज । गु०-चणोटी । क०-गुलगुंति, गुरुगुजी । मल०-कुञ्जि । ता०-कुन्थमणि, कुँरि । पं०-चर्मटी । ते०-गुरुगिज । फा०-चस्मे खरूस, सुर्ख । अं०-Jequirity (जेक्विरीटी) । ले०-Abrus precatorius Linn. (एब्रस प्रिकेटोरिअस लिन.) । Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी) ।

गुञ्जा प्रायः सब प्रान्तों के जङ्गल-झाड़ियों में उत्पन्न होती है तथा हिमालय में ३००० फीट की ऊँचाई तक पायी जाती है। इसकी छता-सुन्दर तथा चकारोद्दी होती है। शाखाएँ-पतली,

लचीली तथा काष्ठमय होती है। यह बरसात के दिनों में खूब हरी भरी दिखाई देती है। पत्ते-हमली के जैसे, २-३ इंच लम्बे, युग्म पक्षाकार होते हैं। पत्रक-१०-२० जोड़े, विपरीत, आधे से एक इंच लम्बे, ३ इंच तक चौड़े, रेखाकार-आयताकार, अखण्ड तथा दोनों सिरों पर कुछ गोल एवं स्वाद में मोठे रहते हैं। पुष्प-वर्षाकाल में ३ इंच लम्बी और गुच्छे में निकली हुई मज्जरियों में प्रायः सफेद या गुलाबी छाया लिये हुये या हल्के बैंगनी रङ्ग के आते हैं। फली-१-१.३ इंच लम्बी मुकीली तथा गुच्छों में आती है। यह शीतकाल के अन्त तक पक जाती है। बीज-छोटे, चिकने, चमकीले, कड़े, काले दाग के साथ और सिन्दूरवर्ण के या कभी कभी बिलकुल श्वेत रंग के या बिलकुल काले, संख्या में ३-६ तथा अण्डाकार होते हैं। इसकी जड़-काष्ठमय, अनेक शाखाओं से युक्त टेढ़ी-मेढ़ी होती है।

नोट—मूलविषों के अन्तर्गत सुश्रुत में इसका उल्लेख है (सु० क० अ० २)। चरक में स्थावर विष वर्ग में इसका पाठ नहीं है। उच्चटा नाम से वाजीकरण के लिये इसका प्रयोग किया गया है। गुञ्जा बीज में जो विष होता है वह उबालने से नष्ट हो जाता है तथा इसका विषैला प्रभाव केवल अधस्त्वगीय प्रवेश से ही होता है। वंगसेन ने गुञ्जसी में वेदना शान्ति के लिये शिराप्रच्छन्न करके गुञ्जाकल्क लेप का निर्देश किया है।^१ बाह्य प्रयोग में गुञ्जा की उपयोगिता होने पर शुद्ध गुञ्जाबीज का ही व्यवहार करना चाहिये।

इसकी जड़ गुणों में कुछ कुछ मुलेठी के समान होती है तथा उसमें भी मुलेठी में पाया जाने वाला ग्लिसिहाइडिन् (Glycyrrhizin) नामक तत्व होता है। इस कारण कभी कभी मुलेठी के प्रतिनिधि रूप में यह ले ली जाती है। किन्तु इसे मुलेठी मानना उचित नहीं है। गुञ्जा की जड़, शोधित (श्वेत) बीज एवं पत्र का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है।

रासायनिक संगठन—गुञ्जा के बीजों में अब्रिन् (Abrin) नामक एक विषैला तथा प्रक्षोभक प्रभूजिन जातीय द्रव्य है। इसके अतिरिक्त बीजों में विषैले प्रभूजिन जातीय अन्य द्रव्य, वसाविच्छेदक किण्व (Fat-splitting enzyme), अब्रूसिक् अॅसिड (Abrussic acid), हीमॅग्लूटिनिन् (Haemagglutinin) एवं यूरिपस् (Urease) पाये जाते हैं। बीजों के छिलकों में लाल रंजक द्रव्य होता है।

इसके मूल में मुलेठी में पाया जाने वाला द्रव्य ग्लिसिहाइडिन् (Glycyrrhizin) करीब १५% एवं अम्ल राल ८% पाई जाती है।

इसके पत्तों में भी करीब १०% ग्लिसिहाइडिन् (Glycyrrhizin) एवं अब्रिन् (Abrin) रहता है।

अॅब्रिन् (Abrin) यह अत्यन्त विषैला द्रव्य है। इसमें ग्लोब्युलिन् (Globulin) एवं अॅल्ब्युमोस (Albumose) ये दो प्रभूजिन (Protein) होते हैं जिनमें से प्रथम अधिक शक्तिशाली है। यह द्रव्य उबालने से नष्ट हो जाता है। इसको परंज बीज में पाये जाने वाले रिंसिन (Ricin) सदृश मानते हैं। शरीर भार के प्रति किलोग्राम के लिये ३.०० से ३.०० मिलिग्राम मात्रा में इसका अधस्त्वगीय सूचिकाभरण घातक होता है। बीजों के काथ को आँखों में डालने से भी मृत्यु हो सकती है क्योंकि वहाँ अत्यन्त तीव्र प्रक्षोभ उत्पन्न होता है तथा विष का प्रचूषण होता है। त्वचान्तर्गत प्रयोग से स्थानिक अत्यन्त तीव्र प्रक्षोभ उत्पन्न होकर शोथ एवं त्वचा में रक्तस्राव होता है। मुख द्वारा सेवन से इससे अल्प या बिलकुल ही प्रक्षोभ नहीं होता एवं आमाशय में पहुँचने पर यह विषरहित हो जाता है। जानवरों में अतिसूक्ष्मातिसूक्ष्म मात्रा में

१. द्वित्रिस्थानेषु गुञ्जस्यां शिरा प्रच्छन्नवेधिता । गुञ्जाकल्केन लिप्ता च सद्यस्त्वजति वेदनाम् ॥ वंगसेन ॥

सूचिकामरण से उनमें इस विष के प्रति सहनशीलता उत्पन्न हो जाती है। चर्मकार चर्म के लोम में जानवरों को मारने के लिये बीजों की बर्तिका बनाकर चमड़े में पवेश करते थे। गर्भपात कराने के लिये भी इस प्रकार की बर्तियों का उपयोग किया जाता था।

शोधन—श्वेतगुंजा के बीज गोदुग्ध में १ प्रहर उबाल कर, छिलके निकाल कर गरम जल से धोकर फिर प्रयोग करना चाहिये। कांजी में भी स्वेदन करने से इनकी शुद्धि हो जाती है।

विष प्रभाव—बिना शोधन के बीजों का प्रयोग तीव्र वामक एवं विरेचक होता है। अधिक मात्रा में प्रयोग से भी इस प्रकार के विसूचिका सदृश लक्षण उत्पन्न होते हैं। यदि इसके प्रयोग से बेचैनी आदि हो तो चौलाई का रस मिश्री मिला कर पिलाना चाहिये तथा ऊपर से दूध पिलाना चाहिये।

गुण और प्रयोग—गुंजा की जड़ की क्रिया मुलेठी की तरह होती है। पत्ते भी मधुर होते हैं। यह भी मुलेठी की ही तरह मधुर, स्नेहन, कफ शामक, मूत्रजनन एवं व्रणरोपण है। इसके बीज उष्ण, बल्य, वृष्य, केच्य, वातहर एवं स्थानिक प्रक्षोभक हैं।

(१) स्वरसंग में श्वेत गुंजा के पत्र कवाचचीनी के साथ या अकेले मिश्री मिलाकर चूसने को दिये जाते हैं। मुखपाक में भी पत्र चूसने से लाभ होता है। वेदनायुक्त शोथ पर पत्र स्वरस या पत्र ककक को तैल में मिलाकर लगाया जाता है। व्रण पर भी इसका उपयोग करते हैं। उपदंश में लाख गुंजा के पत्र ३ माशा, जीरा २ माशा तथा मिश्री १ तोला मिलाकर दिन में दो बार ७ दिन तक प्रयोग किया जाता है।

(२) वीर्य विकार में २ माशा जड़ को दूध में पका कर भोजन के पूर्व रात में देते हैं। कास तथा मूत्र रोगों में भी जड़ का अन्य औषधों के साथ उपयोग करते हैं।

(३) इसकी जड़ तथा फल से सिद्ध तैल गण्डमाला, गलप्रन्थि आदि पर लगाया जाता है तथा उसका नस्य देते हैं।

(४) दाद तथा खुजली पर बीजों के ककक तथा भृंगराजपत्र-स्वरस से सिद्ध तैल का उपयोग किया जाता है। श्वेत कुष्ठ में तैलपाक के पूर्व उसमें चित्रककक मिलाते हैं। पत्रस्वरस का भी चित्रकमूल के साथ श्वेत कुष्ठ में प्रयोग किया जाता है।

(५) अंत्रिन या छिलका निकाले बीजों का फांट आँखों की फूली या रोहा में प्रक्षोभक औषध के रूप में उपयोग किया जाता था किन्तु कभी-कभी इससे अनियंत्रित शोथ आदि होकर आँख भी नष्ट हो जाने के कारण अब इसका उपयोग नहीं करते हैं।

(६) बीजों का ककक खालित्य, गृध्रसी, अंगघात तथा अन्य वातिक विकारों पर लगाते हैं।

मात्रा—मूल २-४ माशा, बीज ३-१३ रत्ती।

अथ कपिकच्छूः (कौंच) । तस्या नामगुणानाह

कपिकच्छूरात्मगुसा वृष्या प्रोक्ता च मर्कटी । अजडा कण्डुरा व्यङ्गा दुःस्पर्शा प्रावृषायणी ॥
लाङ्गली शूकशिम्बी च सैव प्रोक्ता महर्षिभिः ।

कपिकच्छूर्धुंशं वृष्या मधुरा वृंहणी गुरुः । तिक्ता वातहरी बलया कफपित्तास्रनाशिनी ॥

कौंच (केवांच) के नाम तथा गुण—कपिकच्छू, आत्मगुसा, वृष्या, मर्कटी, अजडा, कण्डुरा, व्यङ्गा, दुःस्पर्शा, प्रावृषायणी, लाङ्गली और शूकशिम्बी ये सब कौंच के पर्यायवाचक शब्द महर्षियों ने कहे हैं। कौंच—अत्यन्त वृष्य, मधुर तथा तिक्तरस युक्त, वृंहण, गुरु, वातनाशक, बलकारक तथा कफ, पित्त एवम् रक्तदोष नाशक है ॥ १२९-१३० ॥

अथ तद्बीजगुणानाह

तद्बीजं वातशमनं स्मृतं वाजीकरं परम् ॥ १३१ ॥

इसके बीज के गुण—कौंच के बीज—वातशामक एवम् अत्यन्त वाजीकरण है ॥ १३१ ॥

५७ कपिकच्छू (केवांच)

हि०—केवांच, कौंच, कौंछ, केवाछ, खुजनी । ब०—आलकुशी । म०—खाज कुहिली, कुहिली, कवच । गु०—कवच, कौंचा । क०—नासुगुनी । ते०—पिल्ली अडुगु । ता०—पुनाइक काली, पुनैकछि । पं०—कवांच, कूंच । अं०—Cowhage (काउहेज); Cowitch (काउच) । ले०—*Mucuna pruriens* Bek. (म्युक्युना प्रुरिपन्स बेक्) । Fam. Leguminosae (लेगुमिनोसी) ।

यह भारतवर्ष के सभी मैदानी भागों में एवं लंका तथा चर्मा में पाया जाता है। यह सभी उष्ण प्रदेशों में होता है एवं इसकी खेती भी की जाती है।

इसकी लता—पतली, चकारोही, एकवर्षायु तथा चौमासे में अधिक होती है। पत्ते—त्रिपत्रक एवं २ $\frac{1}{2}$ -५ $\frac{1}{2}$ इञ्च लंबे पण्डुन्त से युक्त होते हैं। पत्रक—३-६ इञ्च लम्बे, पार्श्वपत्रक किञ्चित् हृदय और लट्वाकार एवं अग्र्य पत्रक त्रिर्गयायताकार (Rhomboid), पतले तथा ऊपर चिकने किन्तु अधर तल पर तलशयी रोमों से युक्त होते हैं। पुष्प—नीलारुण (Purple), १ $\frac{1}{2}$ इञ्च तक लम्बे, सघन, लटकी हुई और ६-१२ इञ्च लम्बी मञ्जरियों में आते हैं। फली—२-३ इञ्च लम्बी, ३ इञ्च चौड़ी, दोनों अग्रों पर विपरीत दिशाओं में टेढ़ी, कुछ फूली सी एवं लम्बाई में धारियों से युक्त होती है। यह भूरे रंग के करीब ०.१ इञ्च लम्बे सघन दृढ रोमों से ढकी रहती है। ये रोम शरीर में लगाने से अत्यन्त खुजली उत्पन्न हो कर दाह तथा सूजन उत्पन्न होती है। बीज—प्रत्येक फली में ५-६ काले चमकीले तथा अन्तर्मित्ति के पतले आवरण में ढके रहते हैं।

कौंच जंगली और बागी दो प्रकार का होता है, जंगली के फलियों के ऊपर तीक्ष्ण रोवें होते हैं। इसके शरीर में लगने से खुजलाहट, सूजन और पीड़ा उत्पन्न होती है। बागी कौंच को बाग और खेतों में लगाते हैं। यह दो प्रकार का होता है। एक की फलियों के ऊपर रोवें कम होते हैं और उनमें अधिक तीक्ष्णता नहीं होती और दूसरे में रोवें नहीं होते हैं। दोनों की तरकारी बनती है। किन्तु इसकी तरकारी सर्वप्रिय नहीं होती। रोवें निकाल कर ही तरकारी बनाते हैं।

नोट—चरक में ऋषमी नाम से बल्यवर्ग में, कच्छुरा नाम से पुरीषविरजनीय गण में एवं मधुरस्कंध में ऋष्यप्रोक्ता नाम से तथा सुश्रुत में कच्छुरा नाम से विदारिगन्धादि गण तथा वात-संशमनवर्ग में इसका उल्लेख है। 'पंजाब में सफेद रंग के कौंच के बीज पन्सारी बनेते हैं। ये चरक में लिखी हुई काकाण्डोला नाम की सेम की जाति के बीज हैं' (श्री यादवजी कृत द्रव्यगुणविज्ञानम्, उत्तरार्ध द्वितीय खण्ड, पृष्ठ १७३) ।

इसके बीज, मूल एवं फली के ऊपर के रोमों का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है। चिकित्सा की दृष्टि से जंगली कौंच के बीजों का ही व्यवहार करना चाहिये।

रासायनिक संगठन—इसमें राल, टैनिन, वसा एवं मॅन्गनीझ रहता है। बीजों की मज्जा की अपेक्षा ऊपर के छिलके में मॅन्गनीझ (Manganese) अधिक रहता है।

गुण और प्रयोग—कौंच के बीज पौष्टिक, उत्तेजक, वाजीकर एवं वातशामक होते हैं। फली के ऊपर के रोम उतम आंत्रकुम्भिन होते हैं। इसकी जड़ वातनाशियों के लिये बल्य, उत्तेजक एवं मूत्रजनन है। रोम के स्थानिक प्रयोग से कण्डू, दाद, शोथ एवं स्फोट उत्पन्न होता है।

(१) इसके रोमों को घृत, मधु या गुड़ के साथ गोला बनाकर केंचुप की बीमारी में खिला देते हैं। इससे प्रक्षोभ उत्पन्न होकर कृमि बाहर निकलते हैं। इसके पश्चात् विरेचन देना आवश्यक है।

(२) इसके बीजों की मज्जा का चूर्ण या पाक (वानरीवटिका) आदि बनाकर वाजीकरण के लिये प्रयोग किया जाता है। प्रायः वाजीकरण के प्रत्येक योग में इसका उपयोग किया जाता है।

(३) इसकी जड़ का काथ या स्वरस वातनाडी-दौर्बल्य, अंगघात, अदित एवं भववाहुक आदि वातरोगों में तथा ज्वर में भ्रम उत्पन्न होने पर देते हैं। यह मूत्रजनन होने के कारण इसे वृक्कुरोग में पिलाते हैं तथा शरीर पर लेप भी करते हैं। हैजा में इसके फांट में मधु मिलाकर पिलाने से लाभ होता है। पकातिसार तथा रक्ततिसार में मूल का कल्क दिया जाता है तथा पथ्य में मूलसिद्ध दुग्ध का प्रयोग करते हैं (सु० उ० अ० ४०-७४)। श्लोषद में मूल का लेप किया जाता है। इसके मूलकाथ के धारण से योनिस्कोच होता है (मा० प्र०)।

(४) इसके रोमों से बनाया हुआ मलद्म स्थानिक उत्तेजक तथा साधारण स्फोटोत्पादक माना जाता है।

मात्रा—बीजचूर्ण २-६ माशः; रोम ५-१० रत्ती।

अथ मांसरोहिणी । तस्या नामगुणानाह

मांसरोहिण्यतिरुहा वृत्ता चर्मकषा^१ वसा^२ । प्रहारवल्ली विकशा वीरवत्यपि कथ्यते ॥

स्यान्मांसरोहिणी वृष्या सरा दोषत्रयापहा ॥ १३२ ॥

मांसरोहिणी के नाम तथा गुण—मांसरोहिणी, अतिरुहा (अतिरुहा), वृत्ता, चर्मकषा, वसा, प्रहारवल्ली, विकशा और वीरवती ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। मांसरोहिणी—वीर्यवर्द्धक, सारक (दस्तावत्) और त्रिदोषनाशक है ॥ १३२ ॥

५८ मांसरोहिणी

हि०—मांसरोहिणी, रोहण, रोहिनी, रोहन, रोहिना, रक्त रोहन। म०, बं०—रोहण। गु०—रोण, रोहणी। कोल०—रोहिनी। सन्वा०—रोहन। गोंड०—सोहमि। भील०—रोयदा। ता०—शेम्मरम्। क०—स्वामीर। ते०—सूमि, सोमिडमनु। अं०—Red wood tree (रिड वुड ट्री)। ले०—*Soymida febrifuga A. Juss.* (सॉयमिडा फेब्रीफ्युजा ए. जस्.)। Fam. Meliaceae (मेलिपसी)।

यह प्रायद्वीप से उत्तर की तरफ मेरवारा तक तथा मिर्जापुर एवं छोटा नागपुर आदि स्थानों में पाई जाती है।

इसका वृक्ष-बहुत ऊँचा और स्तम्भ मोटा होता है। इसकी छाल-तिहार्द ३-४ मोटी नीलापन युक्त खाकी अथवा कालापनयुक्त भूरे रंग की एवं कड़वी होती है। लकड़ी-शालीयुक्त भूरे रंग की और खूब टिकाऊ होती है। पत्ते-पक्षवत् तथा ९-१८ इंच लंबे होते हैं। पत्रक-२ से ४ इंच तक लम्बे, अण्डाकार या आयताकार, लगभग अचूत, चिकने, तिर्यक् आधार वाले तथा संख्या में ३ से ६ जोड़े होते हैं। नवीन पत्ते ग्रंथियों से युक्त और लाल होते हैं। पत्रक-दण्ड तथा

१. चर्मकरी इति पाठा०।

२. कृशा इति पाठा०—गुण तथा आकृति की दृष्टि से इसका वसा पर्याय अधिक उचित है।

पत्रक-सिरा सर्वदा लाल बनी रहती है। फूल-नन्हें-नन्हें हरियाली लिये सफेद रंग के अग्रय संजरियों में आते हैं। फल-१ से २। इंच बड़े, बहुत कठोर, भूरे लाल रंग के किन्तु पकने पर काले एवं अग्र पर खुल जाते हैं। प्रत्येक फल में अगणित पल्लदार बीज होते हैं जो आषाढ़, श्रावण में पककर गिर जाते हैं।

इसकी छाल का चिकिरसा में व्यवहार किया जाता है।

नोट—चरक में बल्य एवं सुश्रुत में न्यग्रोधादिगण में इसका उल्लेख है। सुश्रुत के टीकाकार डल्हन ने रोहिणी का अर्थ कुटकी, कायफल, कडुवी तुम्बी तथा हरीतकी भेद आदि किये हैं। इसके रक्तरोहक, रोहिनी आदि प्रचलित नाम मांसरोहिणी के समानार्थक मालूम होते हैं तथा इसकी छाल भी मांसवर्ण की होती है। इस दृष्टि से इसके मांसरोहिणी होने में सन्देह नहीं मालूम पड़ता। अन्य निर्घण्टुकारों ने इसके गुणों में 'ग्राही' लिखा है जो अधिक उचित मालूम पड़ता है। उपर्युक्त डल्हन की टीका के अनुसार यदि किसी द्रव्य को रोहिणी माना जाय तो उस अवस्था में 'सरा' यह उचित हो सकता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में एक रंगहीन, जल में न घुलने वाला किन्तु मधुसार में घुलनशील राखयुक्त कड़वा पदार्थ एवं अधिक मात्रा में टैनिक् अंसिड तथा गैलिक अंसिड रहता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल शीत, ग्राही, तिक्त, कषाय, वृष्य, पौष्टिक, अल्प नियतकालिक ज्वर-प्रतिबन्धक, सन्धानीय, त्रणरोपण एवं कण्ठशुद्धिकर है। अधिक मात्रा में इससे चक्कर एवं संशानाश होता है। ओक वृक्ष की छाल को तरह इसका काथ बाह्य प्रयोग में व्यवहार में लाते हैं। आन्तरिक प्रयोग के लिये चूर्ण का ही व्यवहार उचित है।

(१) विसर्गों या जीर्णज्वरों में शरीर व आंतों में जब शिथिलता आती है तब इसका चूर्ण देते हैं। मलेरिया में इसका काथ १ औंस की मात्रा में दिन में ३ बार देने से लाभ होता है।

(२) पुरानी आंव तथा अतिसार में इससे अच्छा लाभ होता है।

(३) इसकी छाल के काथ से त्रण धोते हैं, बस्ति देते हैं तथा कुल्ले कराते हैं।

मात्रा—त्वक् चूर्ण ३० रत्ती त्रिवार।

अथ चिह्लकः 'चिह्ल' इति लोके तस्य नामगुणानाह

चिह्लको वातनिर्हारः श्लेष्मघ्नो घातुपुष्टिकृत्। आप्रेयो विषवद्यस्य फलं मरस्यनिषूदनम् ॥१३३॥

चिह्लक के गुण—चिह्लक वातनाशक, कफ को दूर करने वाला, घातु की पुष्टि करने वाला और आग्नेय (अत्यन्त गरम) होता है और इसका फल-विषतुल्य मछलियों को मारने वाला होता है ॥ १३३ ॥

५९ चिह्लक

हि०—चिह्ला, चिलर, चिह्लक। म०—मस्सी, करी लैंज। संथा०—चोरचो। खर०—बेरी। कोल-रोरी। उडि०—गिरटि। ले०—*Casearia tomentosa Roxb.* (केसियरिआ टोमेण्टोसा राक्स.)। Fam. Samydeaceae (सॅमिडेसी)।

यह सब जगह पाया जाता है। शाल वनों के पास या झाड़ीशर जंगलों में यह बहुत होता है। इसके वृक्ष-छोटे एवं शाखाएँ दिगन्तसम फैली हुई होती हैं। छाल-मोटी-अंगुर एवं चौकोर

टुकड़ों में छूटती है। काष्ठ-पीताम इवेत, कठोर एवं खुरदरा होता है। पत्ते-आयताकार (छोटे लट्वाकार या अण्डाकार), अक्षरपृष्ठ की नसों पर मृदु रोमश, २-७ इञ्च लम्बे, २ इञ्च चौड़े एवं दन्तुर होते हैं। पत्रसिरायें रक्तम होती हैं। पुष्प-हरिताम पीत वर्ण के पुष्प नवीन दृग्निर्भों पर आते हैं। फल-मांसल, अण्डाकृति, ३ इञ्च बड़े, कठवे एवं ६ रेखाओं से युक्त होते हैं। फलों का चूर्ण पानी में डाल देने से मछलियां मर जाती हैं। इसके सभी भागों का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है।

नोट—अन्य निघण्टुओं में इसका उल्लेख नहीं पाया जाता। इसकी एक दूसरी उपजाति कैसिएरिआ एस्क्युलेण्टा राक्स. (C. esculenta Roxb.), के मूल एवं पत्र का उपयोग ससरंगा या स्वर्णमूला नाम से यकृत-वृद्धि, अर्श तथा यकृतोद्भव मधुमेह में किया जाता है।

गुण और प्रयोग—जलशोथ में फल का गूदा खिलाते हैं, सर्वांग में छाल का लेप करते हैं तथा पत्रकाथ से स्नान कराते हैं। इससे पेशाब अधिक होती है।

अथ टङ्कारी । तस्या गुणानाह

टङ्कारी वातजित्तिहा श्लेष्मणी दीपनी लघुः। शोथोदरव्यथाहन्त्री हिता पीठविसर्पिणाम् ॥१३३॥

टङ्कारी के गुण—टङ्कारी वातनाशक, तिक्तारसयुक्त कफघ्न, अग्निदीपक, पाक में लघु तथा शोथ एवं उदररोग को दूर करने वाली होती है। यह पीठ पर के विसर्पके लिये हितकर है ॥१३३॥

नोट—टङ्कारी का उल्लेख अन्य निघण्टुओं में नहीं मिलता। लघु अग्निमन्य (Clerodendrum phlomidis) को कहीं-कहीं टङ्कारी कहते हैं जो 'तङ्कारी' का अपभ्रंश मालूम पड़ता है। इसका वर्णन २८१ पृष्ठ पर किया गया है। टङ्कारी नाम से फाइसेलिस् मिनिमा (Physalis minima) का वर्णन आधुनिक उद्भिदवेत्ताओं ने किया है जिसका यहाँ वर्णन किया जा रहा है। यह विदेश से आने वाले मकोय की जाति के फल 'काकनज' (Physalis alkekengi Linn.) के प्रतिनिधि माने जाते हैं। डॉ० देसाई ने सम्भवतः इसका उल्लेख फा. इण्डिका (P. indica) नाम से किया है।

६० टङ्कारी

सं०—टङ्कारी, लक्ष्मीप्रिया, चिरपोय। हिं०—तुलसीपति। वं०—बनटेपारि। म०—थानमोडी, चिरकोटी, चिरबुटले। गु०—पोपटी, पपोटी। पं०—हुबककनज। क०—बोडुल। ता०—सिसयकालि। ले०—कुपटे। ले०—Physalis minima Linn. (फाइसेलिस् मिनिमा लिन.)। Fam. Solanaceae (सोलिनेसी)।

यह सब प्रान्तों में पाया जाता है। इसका छुप-६-१८ इञ्च ऊँचा, नरम लोमयुक्त एवं वर्षजीवी होता है। पत्ते-२ इञ्च लंबे, अण्डाकार तथा दन्तुर होते हैं। पुष्प-वृष्टाकृति, पीतवर्ण तथा ३ इञ्च बड़े होते हैं। फल-१ १/२ इञ्च लंबा, ३ इञ्च चौड़ा, लाल रंग का रुचिकर होता है जिसमें छोटे-छोटे अनेक बीज होते हैं।

गुण और प्रयोग—इसके फल बलकारक, मूत्रजनन एवं विरेचक होते हैं। 'काकनज' के स्थान पर इनका उपयोग किया जाता है। सोजाक में फलों को खिलाते हैं। स्तनशिक्षिता दूर करने के लिये इसके पंचांग को चावल की धोवन में पीस कर लेप करते हैं। मलावष्टम में इसके फलों का पाक बहुत लाभदायक है। तमकथास में इसकी जड़ तथा टंकण का लावा मधु के साथ देने से श्वासावरोध कम होकर कफ निकलता है।

मात्रा—३-६ माश।

अथ वेतसः । तस्य नामगुणानाह

वेतसो नम्रकः प्रोक्तो वानीरो वञ्जुलस्तथा । अन्नपुष्पश्च विदुलो रथः शीतश्च कीर्तितः ॥

वेतसः शीतलो दाहशोथार्शोयोनिरुक्प्रणुत् । हृत्ति वीसर्पकृच्छ्रास्तपित्ताशमरिकाफानिलान् ॥

वेतस के नाम तथा गुण—वेतस, नम्रक, वानीर, वञ्जुल, अन्नपुष्प, विदुल, रथ और शीत ये सब वेतस के नाम हैं। वेतस-शीतल है तथा दाह, शोथ, अर्श (बवासीर), योनिरोग, विसर्प, मूत्रकृच्छ्र, रक्तपित्त, अदमरी (पथरी), कफ तथा वात को दूर करने वाला है ॥ १३५-१३६ ॥

नोट—वेतस के विषय में विद्वानों में मतभेद है। भावप्रकाश, ४० नि०, १० नि० आदि में वेतस तथा जलवेतस इन दो भेदों का उल्लेख है। १० नि० ने वेत्र नाम से एक स्वतन्त्र द्रव्य का भी उल्लेख किया है। अन्य निघण्टुओं ने वेतस के पर्याय में या स्वतन्त्ररूप से वेत्र का उल्लेख नहीं किया है। कुछ विद्वान् वेतस से वेत का ग्रहण करते हैं जो कैलमस टेनुस (Calamus tenuis) है। कुछ लोगों के मत से वेतस से वेदमुश्क का ग्रहण उचित है जो सैलिकस कॉप्रिया (Salix caprea) है। कुछ विद्वानों के मत से इसी जाति के सॅ० अल्बा (S. alba) को वेतस मानना चाहिये। इसी जाति के अन्य उपभेद (जलमाला) सॅ० टेट्रास्पर्म (S. tetrasperma) एवं सॅ० अकूमोफाइला (S. acmophylla) को जलवेतस माना जाता है।

भावप्रकाशकार वञ्जुल और वानीर पर्याय में लिखते हैं किन्तु चरक में दोनों का साथ-साथ उल्लेख होने से ऐसा मालूम होता है कि ये दो अलग वनस्पतियाँ हैं। च० वि० अ० ४-३६ में वेत्र तथा वेतस भी साथ-साथ आये हैं जिससे ये भी दो अलग द्रव्य हैं ऐसा मालूम होता है। वञ्जुल नाम से चरक में वेदनास्थापन महाकषाय में एवं आसवयोनिसार वृक्षां (सु० अ० २५) में तथा सुश्रुत में न्यग्रोधोदिगण में उल्लेख है। 'विदुल' नाम चरक में वमनोपग महाकषाय (सू. अ. ४) में आया है जिसका अर्थ चक्रपाणि हिज्जल करते हैं। सुश्रुत (सू. अ. ३९) में ऊर्ध्वभागहरण में विदुल आता है वहाँ उल्लेख उसका अर्थ वेतस करते हैं। श्रीयुत यादव जी विदुल नाम हिज्जल के पर्याय में मानते हैं। हिज्जल (समुद्रफल) में वामक गुण देखा भी जाता है। चरक में वेतस नाम से इसकी मूलत्वक का उपयोग रक्तपित्त (चि. अ. ४) में एवं सुश्रुत में जीर्णज्वर (उ. अ. १९) में मूल का उपयोग किया हुआ है। चरक में वेत्र नाम से रक्तपित्त (चि. अ. ४), शोथ (चि. अ. १२) एवं ऊरुस्तम्भ (चि. अ. २७) में उपयोग किया गया है।

गुणों की दृष्टि से वेदमुश्क के गुण भावप्रकाशोक्त वेतस से मिलते हैं। यहाँ पर वेदमुश्क एवं वेत का अलग अलग वर्णन किया गया है। जलवेतस के अन्तर्गत वेदमुश्क की अन्य उपजाति जलमाला का वर्णन किया गया है।

६१ वेतस १ (वेदमुश्क)

सं०—वेतस, वानीर, गन्धपुष्प। हिं०, पं०—वेदमुश्क। पश्तो०—त्वगवल। अ०—खिलाफुल बलखी। फा०—वेदमुश्क, गुर्ववेद। अं०—Willow विलो; Sallow (सॅलो)। ले०—Salix caprea Linn. (सैलिकस कॉप्रिया लिन.)। Fam. Salicaceae (सैलिकेसी)।

१. वेत्रो वेतो योगिदण्डः सुदण्डो मृदुपर्वकः।

वेत्रः पंचविधः शैत्यकषायो भूतपित्तहृत् ॥ रा. नि.

२. क. अ. १, ९; सि. अ. १०, १९।

यह फारस, ईरान, उत्तरपश्चिम सीमाप्रान्त एवं भारतवर्ष में काश्मीर तथा पंजाब में होता है।

इसका वृक्ष—छोटा तथा १५-३० फीट ऊँचा होता है। छाल—पतली, लचीली, कषाय एवं बहुत कड़वी होती है। पत्ते—एकांतर, हरे, बड़े, अंडाकार, दन्तुर एवं नुकीले होते हैं। मध्यशिरा ऊपर के पृष्ठ पर कुछ श्वेत किन्तु अधोपृष्ठ पर रोमश होती है। पुष्प—पीतवर्ण के तथा सुगन्धित होते हैं।

इसके पंचांग का व्यवहार किया जाता है। इसके पुष्पों से बनाये अर्क का 'अर्क वेदमुस्क' नाम से यूनानी चिकित्सा में बहुत व्यवहार किया जाता है। इससे स्रवित हुई शर्करा, वेद अंगवीन का भी उपयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन—इसकी छाल में ४-१०% टैनिन एसिड, २-७% एक रवेदार ग्लूकोसाइड, सैलीसिन (Salicin), मोम, वसा एवं गोंद होता है। इसके पुष्पों में एक सुगन्धित उड़नशील तैल पाया जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल आही, शीतल, ज्वरहर, दाहप्रशमन, वेदनास्थापक, मूत्रक, शिरःशूल नाशक, हृदय को बल देने वाला, उत्तेजक एवं वाजीकर है। इसके पुष्प रोचक एवं पत्ते ज्वरहर होते हैं।

(१) इसकी छाल का काथ विषम ज्वर, पैत्तिक ज्वर, नूतन आमवात तथा कफक्षय में देते हैं। इससे दाह, शिरःशूल, संधिपीड़ा, संधिशीथ एवं रक्तघीवन कम होता है। अर्श में छाल का लेप किया जाता है। रक्तघीवन में इसके काण्ड की राख खिलाते हैं।

(२) इसके फूलों का अर्क उष्ण ज्वर तथा हृदय की थड़कन में पिलाते हैं। नेत्राभिष्यन्द तथा शिरःशूल में इसमें कपड़ा भिगो कर उसकी पट्टी रखते हैं।

मात्रा—छाल ३-१ तो०; अर्क १-२ तोला।

६२ वेतस २ (बेंत)

सं०—वेत, वेतस ?। हिं०—बेंत। बं०—छाँचि वेत। म०—वेत। क०—वेतसु। गु०—नेतर। ते०—जतयुर कुलां। पं०—बेंत। ता०—वेतम्। फा०—बेंत, हज़ां खिरजा। अ०—खीरजा, खलाफ, हरजा। अं०—Cane (केन)। ले०—*Calamus tenuis Roxb.* (कैलमसु टेनुइस राक्स)। Fam. Palmeae (पामेइ)।

यह जलप्राय भूमि में २ हजार फीट की ऊँचाई तक पाया जाता है।

इसकी लता—सघन, आरोही तथा कटिदार होती है। यह काँटी की सहायता से फैलती है। काण्ड—चिकना, हरा, और कोषमय पत्राधारों से ढँका हुआ रहना है। पत्ते—२-४ फीट लंबे, पक्षीकार और पत्रदण्ड काँटी से युक्त होते हैं। पत्रक—६-१२ इंच लंबे, ३-३ इंच चौड़े, रेखाकार, मालाकार, नुकीले एवं तीन शिराओं से युक्त होते हैं। पत्रक के किनारे तथा शिरा पर भी काँटे होते हैं। पत्रनाल और पत्रकोष पर भी प्रायः १ इंच तक लंबे और सीधे काँटे होते हैं। पत्रकोष से चाबुक के सदृश ८ फीट तक लंबी एक रचना फ्लैजेलम (Flagellum) निकली रहती है जिस पर भी ठेके काँटे होते हैं। पुष्प—पत्रकोषों के अन्दर एकलिंगी पुष्पों की विदग्धक मंजरियाँ पाई जाती हैं। फल—प्रायः ३ इंच लंबा एवं काले किनारे के बरकपत्रों से ढका हुआ रहता है। शीतकृतु में फल पक जाते हैं। बेंत की कई जातियाँ पाई जाती हैं।

गुण और प्रयोग—इसको कुछ विद्वान् वेतस मानते हैं तथा वेतस के स्थान पर इसका प्रयोग करते हैं। इसकी जड़ ज्वरहर, पित्तहर, पौष्टिक एवं विरेचक मानी जाती है। इसके फल का गूदा आही होता है। इसके कोमल अंगुरों का शाक तिक्तपौष्टिक माना जाता है।

अथ जलवेतसः । तस्य नामगुणानाह

निकुञ्जकः परिव्याधो नादेयो जलवेतसः । जलजो वेतसः शीतः 'कुष्ठद्वैतकोपनः ॥ १३७ ॥

जलवेतस के नाम तथा गुण—निकुञ्जक, परिव्याध, नादेय और जलवेतस ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। जलवेतस—शीतल, कुष्ठनाशक तथा वात को कुपित करनेवाला होता है ॥ १३७ ॥

६३ जलवेतस (जलमाला)

सं०—जलवेतस, वंजुल ? हिं०—जलमाला, सुकूलवेत, बंद। म०—वालुज। बं०—पानिजामा। ता०—अत्रुपलै। ते०—एतिपाल। फा०—वेदसादा, वेदलैला। अ०—खिलाफ, सफ्साफ। ले०—*Salix tetrasperma Roxb.* (सैलिकस टेट्रास्पेर्मा राक्स)। Fam. Salicaceae (सैलिकेसी)।

इसका वृक्ष प्रायः नदी नालों के किनारे पाया जाता है। हिमालय में ६००० फीट की ऊँचाई तक यह होता है। काश्मीर तथा पश्चिमोत्तर प्रान्त में इसे लगाते हैं।

इसका वृक्ष—साधारण ऊँचा तथा सुन्दर होता है। छाल—कृष्णाम, तन्तुमय, चिमड़, कड़वी, कषाय तथा कुछ सुगन्धित होती है। पत्ते—३-६ इंच लंबे, रेखाकार—मालाकार, चिकने, पत्रोदर, हरा, पत्रपृष्ठ, सफेद एवं पत्रवृन्त लाल रंग का होता है। पुष्प—सफेदी लिये पीले और कुछ सुगन्धित मंजरियों में आते हैं। फल—करीब ५ इंच लम्बा होता है तथा प्रत्येक फल में ४-६ बीज होते हैं। इसकी छाल एवं पत्र का चिकित्सा में उपयोग किया जाता है। इसके लचीले पतले काण्ड से टोकरियाँ बनायी जाती हैं। इसकी अन्य उपजातियों को वेत, लैला, मजजू तथा मैसा आदि नामों से पुकारा जाता है।

गुण और प्रयोग—इसके गुण भी वेदमुस्क की तरह ही हैं। इसकी छाल पौष्टिक, ज्वरघ्न, तथा नियतकालिकज्वरप्रतिबंधक है। रक्तातिसार, यकृत एवं प्लीहा शोथ तथा कामला में इसके ताजे पत्तों का रस देते हैं।

मात्रा—छाल ३-१ तो०; रस २-५ तो०; अर्क ५-१० तो०।

अथेज्जलः (समुद्रफल इति लोके) तस्य नामगुणानाह

इज्जलो हिज्जलश्चापि निचुलश्चात्रुजस्तथा । जलवेतसवद्वेद्यो हिज्जलोऽयं विषापहः ॥ १३८ ॥

इज्जल (समुद्रफल) के नाम तथा गुण—इज्जल, हिज्जल, निचुल और अम्बुज, ये सब पर्यायवाचक शब्द हैं। इज्जल-गुणों में 'जलवेतस' के ही समान है तथा विशेषतः यह विषनाशक है ॥ १३८ ॥

६४ इज्जल (समुद्रफल)

हिं०—इज्जल, ईजर, हिज्जल, समुद्रफल। बं०—हिज्जल। म०—सतफल, समुद्रफल। गु०—समुद्रफल। मा०—समंदर फल। आसा०—हिंडोल। सन्ता०—हिंजल। कोल०—सपरंग। उरि०—

१. संग्राही इति पाठा०।

किजोलो । ते०-कणपु, कणिगि । ता०-समुद्रपुछानि । क०-कैपुकणगिन । मल०-चरियसंस्करवडि ।
ले०-Barringtonia acutangula (Linn). Gaertn. (बॅरिंग्टोनिया एक्वुटेन्सुला, (लिन)
गार्ट) । Fam. Lecythidaceae (लेसिथिडॅसी) ।

यह प्रायः सब प्रान्तों में पाया जाता है किन्तु बंगाल तथा दक्षिण में अधिक देखने में आता है ।
इसका वृक्ष-मध्यमाकार का और बारहों मास हरा-भरा रहता है । छाल-आध इत्र तक मोटी
काळापन युक्त भूरे रङ्ग की और खुरदरी होती है । पत्ते-अभि-लट्वाकार या अभि-प्रासवत्,
२×५ इत्र या कर्मी-कभी १×४ इत्र बड़े, सूक्ष्म दन्तुर तथा ६ इत्र लंबे वृन्त से युक्त होते हैं ।
पुष्प-लाल रंग के पुष्प करीब २ फीट लंबी, नाचे लटकती हुई सघुन्त काण्डज मंजरियों में आते
हैं तथा जल्दी ही झड़ जाते हैं । पुंकेसर लालवर्ण के होते हैं । फल-१-२ । इत्र लंबा, बादाम
जैसा, चार उभारों से युक्त और अग्र पर स्थायी बाह्यपुट के साथ रहता है । यह ताजी अवस्था में
छाल किन्तु पकने पर काला तथा कठोर हो जाता है । इसे जल में भिगोने पर यह मुलायम हो
जाता है । इसका स्वाद प्रारंभ में मधुर तथा बाद में कड़वा और भित्तली लाने वाला होता है । फल
की छाल पतली रहती है तथा इसमें १ बीज रहता है । इसके फल का चिकित्सा में उपयोग किया
जाता है । इसकी छाल मछलियों के लिये विषैली है ।

नोट—मदनपालनिघण्टु में निचुल नाम जलवेतस के पर्याय में आया है किन्तु उसमें
हिज्जल का भी स्वतंत्र वर्णन किया हुआ है । ४० नि० में भी निचुल नाम वेतस के पर्याय में
आया है । वास्तव में निचुल नाम हिज्जल (समुद्रफल) के लिये ही उचित है जिसका ऊपर वर्णन
किया गया है । चरक (सू० अ० २) में निचुल नाम से विरेचनद्रव्यों में इसका उल्लेख है ।
श्रीयुत यादवजी ने 'विदुल' नाम इसके (हिज्जल) पर्याय में माना है जो गुणों की दृष्टि से उचित
मालूम पड़ता है किन्तु भावप्रकाशकार विदुल नाम वेतस के पर्याय में लिखते हैं । चक्रपाणि
विदुल का अर्थ वमनोपग महाकषाय (सू० अ० ४) की टीका में हिज्जल करते हैं किन्तु दूसरे
स्थान (च० सि० अ० १०-३८) में विदुल का अर्थ वेतस भी किया मिलता है ।

रासायनिक संगठन—इसके फल में साबुन की तरह एक पदार्थ रहता है । फल के चूर्ण को
जल में हिलाने से फेन निकलता है जो बहुत देर तक रहता है । फेन का स्वाद प्रारंभ में मधुर
पर्व बाद में कड़वा तथा तीता मालूम होता है ।

गुण और प्रयोग—समुद्रफल कफघ्न, वामक, आनुलोमिक एवं वेदनात्थापन है । इसकी क्रिया
मदनफल की तरह होती है । वृद्धों में मदनफल तथा बच्चों में समुद्रफल देते हैं । इसकी जड़
कड़वी तथा पार्थक्यिक ज्वर में लाभदायक होती है ।

(१) बच्चों के प्रतिश्याय, कास, फुफ्फुसपाक आदि कफविकारों में इसे देते हैं । यदि इसके
देने के पश्चात् वमन न हो तो नमक डालकर उष्ण जल पिलाना चाहिये । इससे वमन होकर
कफ निकल जाता है तथा पाखाना भी होता है । यदि इसके प्रयोग से कुछ दुष्परिणाम मालूम पड़े
तो चावल की मांड धी मिलाकर दें । समुद्रफल को पीसकर छाती तथा पेट पर भी लगाते हैं ।

(२) तमकश्वास में ६ माशा समुद्रफल व सफेद कोयल की जड़ ६ माशे दूध में घिसकर
देते हैं जिससे वमन-विरेचन होकर आराम मिलता है ।

(३) शिरःशूल में इसके बीजों का नस्य लाभदायक होता है ।

(४) इसके पत्तों का रस मधु मिलाकर आमातिसार में देने से लाभ होता है ।

(५) आँखों से पानी जाता हो तो समुद्रफल को जल में घिसकर लगाने से लाभ होता है ।

(६) उदरशूल, आनाह आदि में नमक, अजवायन के साथ इसका चूर्ण दिया जाता है ।
(७) पार्थक्यिक ज्वरों में काली मिर्च एवं तुलसी पत्र के साथ इसे देते हैं ।
मात्रा—१-२ रत्ती ।

अथाङ्कोटः (अङ्कोल-टेरा) । तस्य नामगुणानाह

अङ्कोटो दीर्घकीलः स्यादङ्कोलश्च निकोचकः । अङ्कोटकः कटुस्तीक्ष्णः स्निग्धोष्णस्तुवरो लघुः ॥
रेचनः कृमिशूलामशोफग्रहविषापहः । विसर्पकफपित्तास्रमूचकाहिविषापहः ॥ १४० ॥

अङ्कोल के नाम तथा गुण—अङ्कोट, दीर्घकील, अङ्कोल और निकोचक ये सब 'अङ्कोल' के
नाम हैं । अङ्कोल-कटु तथा कषाय (कसेला) रसयुक्त, तीक्ष्ण तथा उष्णवीर्य, स्निग्ध, लघु
(हलका), रेचक (दस्तावर) होता है एवं कृमि, शूल, आम, शोथ (सूजन), ग्रहवाधा, विष,
विसर्प, कफ, पित्त, रक्तविकार एवं मूसा तथा सर्प के विष को दूर करने वाला होता है ॥ १३९-१४० ॥

अथाङ्कोटफलस्य गुणानाह

तत्फलं शीतलं स्वादु श्लेष्मघ्नं वृंहणं गुरु । वलयं विरेचनं वातपित्तदाहहृद्यान्नजित् ॥ १४१ ॥

अङ्कोल के फल का गुण—अङ्कोल का फल-शीतल, स्वादिष्ट, कफनाशक, वृंहण, पाक में
गुरु, बलकारक, विरेचक एवं वायु, पित्त, दाह, क्षय तथा रक्तविकार को दूर करने वाला
होता है ॥ १४१ ॥

६५ अङ्कोट

हि०-अङ्कोल, टेरा, टेरा, डेला । अं०-आंकोड, बाघ, आंकाडा, अकरकंटा । म०-अंकोल ।
गु०-आंकोल, अंकोल । क०-अंकोले-मर । ते०-कुडगु; अंकोलमु । ता०-अलंगी । सन्ता०-डेला,
डेला । ले०-Alangium lamareckii thwaites (एलॅन्जियम लेमाकार्ड थ्वेट्स) । Fam.
Alangiaceae (एलॅन्जियेसी) ।

यह मध्य और दक्षिण भारत, उत्तर-प्रदेश, बंगाल, बिहार, हिमालय की घाटी से गङ्गा
तक और राजपुताना आदि कई प्रान्तों में पाया जाता है । यह प्रायः नदी-नालों की ढालों पर
अधिक होता है ।

इसका छोटा वृक्ष, काँटेदार देखने में सुन्दर और सघन होता है । छाल—धूसर रङ्ग की, मोटी
पर्व खुरदरी होती है । जड़—मारी, पीताम, तेलिया तथा मजबूत होती है । जड़ की छाल, दाल-
चीनी की अपेक्षा भूरे रङ्ग की रहती है । पत्ते-कनेर के पत्तों के समान तीन से पाँच इत्र लम्बे,
१ से २ इत्र चौड़े, आयताकार, आयताकार-प्रासवत् या कोई अंडाकार होते हैं । पुष्पोद्गम के पूर्व
पत्ते गिर जाते हैं । फूल-सुगन्धित सफेद रङ्ग के होते हैं । फल-कच्ची अवस्था में नीले और पकने
पर जामुनी लाल, ४-६ इत्र बड़े तथा मांसल होते हैं । बीज-गुठलीदार और बड़े होते हैं ।
Aesculus indica colebr. (एस्क्युलस इन्डिका कोले) को 'कंडार, बंखोर, अंकोल' आदि नामों
से क्वचित् वर्णित किया जाता है किन्तु प्रस्तुत अङ्कोट के प्रतिनिधि के रूप में उक्त वनस्पति का
व्यवहार नहीं करना चाहिये ।

इसकी जड़ की छाल, पत्र, बीज एवं बीज तैल का चिकित्सा में व्यवहार किया जाता है ।
इसका स्वाद कड़वा एवं गन्ध अभिय होती है ।

रासायनिक संगठन—इसकी जड़ की छाल में अंलेन्जाइन (Alangine) नामक एक कड़वा क्षाराम एवं पोटेशियम क्लोराइड (Potassium chloride) पाया जाता है। इस क्षाराम के रवे नहीं बनते तथा यह जल में भी नहीं घुलता। यह मधुसार में घुल जाता है।

बिड़ो में अंलेन्जाइन सल्फेट (Alangine sulphate) नामक इसके लवण के शिरान्तर्गत सूचिकाभरण से रक्तनिपीड कम होता है जो १, २ मिनट में ही स्वभाविक हो जाता है। इससे हृदय अवसादित होता है तथा आन्त्र की पुरःसरण क्रिया बढ़ती है। इससे श्वास अनियमित हो जाता है।

गुण और प्रयोग—इसकी छाल उष्ण, कड़वी, वामक, स्वेदजनक, मूत्रल, रेचक, ज्वरहर, कुम्भिन एवं विषहर है। अल्प मात्रा में (१-३ र०) यह हृत्साकारक, स्वेदजनन एवं मूत्रल है। अधिक मात्रा (३ माशा) में यह वामक एवं विरेचक है। इसके गुण मदार तथा पपिकाक, के समान हैं। वामक मात्रा में प्रयोग से आमाशय में दाह तथा हृदय एवं रक्तवाहिनियों पर अवसादक प्रभाव पड़ता है।

(१) कुष्ठ, उपदंश तथा सभी प्रकार के त्वचा के विकारों में इसकी मूलत्वक् ३-१ रत्ती की मात्रा में दिन में तीन बार देते हैं तथा बीज तैल या जड़ को पीसकर लगाते हैं।

(२) प्रतिश्याय, इन्फ्लुएन्जा एवं संधिपीडा युक्त ज्वर (डेंगु) में इसकी जड़ घोड़वच या सोंठ के साथ चावल की मांड में उबालकर देते हैं तथा पत्तों को पीसकर जरा गरम कर पीड़ा युक्त स्थान पर बाँधते हैं।

(३) यकृतोदर, जलोदर एवं वृकजन्य शोफ में इसकी मूलत्वक् ३ रत्ती की मात्रा में दे से विरेचन होता है तथा यकृत की क्रिया सुधरती है। इसके साथ यवक्षार का प्रयोग करने से मूत्र भी बढ़ता है।

(४) चूहे के विष में तथा सर्पविष में यह लाभदायक माना जाता है। सर्प विष में २० रत्ती की मात्रा में मूल का चूर्ण चावल की धोवन के साथ देते हैं।

मात्रा—मूलत्वक् १-३ रत्ती; वामक ३ माशा।

अथ बलाचतुष्टयम् तस्य नामगुणानाह

बलावाट्यालिका वाट्या सैव वाट्यालकाऽपि च। महाबला पीतपुष्पा सहदेवी च सा स्मृता ततोऽन्याऽतिबला ऋष्यप्रोक्ता कङ्कतिका च सा। गाङ्गेरुकी नागबला क्षषा ह्रस्वगवेषुका ॥

बलाचतुष्टय (चारों प्रकार के बला) के नाम तथा गुण—(१) बला, वाट्यालिका, वाट्या तथा वाट्यालका ये सब नाम बला (खिरंटी) के हैं। (२) महाबला, पीतपुष्पा और सहदेवी ये सब नाम महाबला के हैं। (३) अतिबला, ऋष्यप्रोक्ता और कङ्कतिका ये सब अतिबला (कंधी) के नाम हैं। (४) गांगेरुकी, नागबला, क्षषा तथा ह्रस्वगवेषुका ये सब नाम नागबला के हैं ॥ १४२-१४३ ॥

बलाचतुष्टयं शीतं मधुरं बलकान्तिकृत्। सिग्धं ग्राहि समीराक्षपित्तास्रक्षतनाशनम् ॥

बलाचतुष्टय—शीतवीर्य, मधुररसयुक्त, बलकारक, कान्तिकारक, सिग्ध एवं ग्राही होता है और वायु रक्तपित्त, रक्तविकार तथा व्रण को दूर करने वाला होता है ॥ १४४ ॥

बलरियारा, सहदेवी, ककहिया, गुलशकरी, इति बलाचतुष्टयम् ॥ १४४ ॥

यहाँ पर 'बलाचतुष्टय' से १. बरियारा, २. सहदेई, ३. ककहिया, ४. गुलशकरी— इन चारों को ही समझना चाहिये ॥ १४४ ॥

बलामूलत्वचरचूर्णं पीतं सक्षीरशर्करम्। मूत्रातिसारं हरति दृष्टमेतन्न संशयः ॥ १४५ ॥
हरेन्महाबला कृच्छ्रम् भवेद्वातानुलोमिनी। हन्यादतिबला मेहं पयसा सितया समम् ॥ १४६ ॥

'बरियारे' के जड़ की छाल का चूर्ण यदि दूध तथा शर्कर के साथ मिलाकर पीया जाय तो मूत्रातिसार को दूर करता है, यह परीक्षा करके देखा गया है, अत एव इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये। 'महाबला' मूत्रकृच्छ्र को दूर करती है तथा इससे वायु का अनुलोमन भी होता है। 'ककहिया' का चूर्ण दूध तथा चीनी के साथ खाने से प्रमेह नष्ट होता है ॥ १४५-१४६ ॥

नोट—भावप्रकाशकार बला के ४ भेद लिखते हैं। आधुनिक उद्भिज्जवैचार्यों ने भी बला प्रजाति (Sida) की कई जातियों का वर्णन किया है। इनमें से अतिबला (कंधी) निस्संदेह अबुटिलॉन (Abutilon) प्रजाति की वनस्पति है। अधिकांश विद्वानों ने सिडा कॉर्डिफोलिया (Sida cordifolia) को बला माना है, किन्तु श्री ठा० बलवन्तसिंह जी ने (पीत पुष्प) सिडा रॉम्बिफोलिया (Sida rhombifolia) को वास्तविक बला लिखा है जिसको अन्य विद्वानों ने महाबला माना है। कुछ विद्वान् रॉम्बिफोलिया का अन्य उपभेद (स्वतः पुष्प) सिडा ने महाबला माना है। कुछ विद्वान् रॉम्बिफोलिया का अन्य उपभेद (स्वतः पुष्प) सिडा रॉम्बोइडिया (Sida rhomboidea) को महाबला मानते हैं। भावप्रकाशकार महाबला के पर्याय में सहदेवी लिखते हैं लेकिन वास्तव में सहदेवी यह मित्र वर्ग की हर्नोनिआ सिनेरिआ (Vernonia cinerea) है। चरक-सुश्रुत में महाबला नाम नहीं आया है किन्तु सहदेवा नाम है। सम्भव है कि चरक, सुश्रुतोंक सहदेवा ही महाबला हो तथा गलती से सहदेवा के स्थान पर सहदेवी छप गया हो।

नागबला—के सम्बन्ध में अधिक मतभेद हैं। सिडा हेरोनिसोफोलिया या सिडा ह्युमिलिस (Sida veronicaefolia; Syn-Sida humilis) को अधिकांश विद्वान् नागबला मानते हैं। यह भूमि पर सर्प की तरह टेढ़ी-मेढ़ी फैलती है। कुछ विद्वान् गुलसकरी को नागबला मानते हैं क्योंकि नागबला के पर्याय में गांगेरुकी आया है। गुलसकरी के ले० नाम के विषय में भी मतभेद है। सिडा स्पाइनोसा (Sida spinosa) को कुछ लोगों ने गुलसकरी लिखा है किन्तु श्री ठा० बलवन्तसिंह जी ने उसे अशुद्ध बतलाया है तथा वे ग्रैविया हिर्सुटा (Grewia hirsuta) को गुलसकरी मानते हैं। नागबला का चतुष्फला पर्याय इसके लिये उपयुक्त मालूम होता है। इसे तथा इसके अन्य भेद ग्रे० पोप्यूलिफोलिया (Grewia populifolia) को गांगेरुकी (गंगरेन) कहते हैं जिससे इन्हें नागबला माना जाता है। इनके अतिरिक्त सिडा अक्यूटा (Sida acuta) एवं अन्य भेद भी पाये जाते हैं। यहाँ पर संक्षेप में उपर्युक्त भेदों का स्वतन्त्र वर्णन किया गया है। वास्तव में गुणों की दृष्टि से इनमें विशेष अन्तर न होने के कारण एक के स्थान में दूसरे का व्यवहार किया जा सकता है।

६६ बला (बरियारा)

हिं०—बरियार, बरियारा, बरियाल, खरेठी, खरैटी, खिरंटी। **बीजवन्द** (बीज)। **वं०**—बेडेला **म०**—चिकणा। **गु०**—बलदाणा (बीज), खरेटी, बल, बला। **क०**—किसंगी, हेडटि-गिडा। **सै०**—चिरिवेडा, मुत्तु। **ता०**—अखिल-मनैपुण्डु। **मा०**—खरंटी। **पं०**—खरैटी, सिमक। **अं०**—Country mallow (कन्द्री मॅलो); Sida (सिडा)। **ले०**—Sida cordifolia Linn. (सिडा कॉर्डिफोलिया लिन.)। **Fam.** Malvaceae (माल्वेसी)।